चतुर्थ अध्याय : अस्मितावादी विमर्श और स्त्री-कविता

चतुर्थ अध्याय : अस्मितावादी विमर्श और स्त्री-कविता

i. स्त्री-कविता में सबाल्टर्न चिंतन :

सबाल्टर्न चिंतन अथवा सबाल्टर्न अध्ययन इतिहास अध्ययन की नयी पद्धति के रूप में अस्सी-नब्बे के दशक में उभरकर आया। इसके प्रस्तोता और प्रेरणास्रोत इटली के वाम चिंतक अंटोनियो ग्राम्शी रहे हैं। भारतीय इतिहासकारों में मुख्य रूप से "रणजीत गुहा, शाहीद अमीन, दीपेश चक्रवर्ती, पार्थ चटर्जी, आशिष नंदी, ज्ञानेंद्र पांडे आदि इतिहासकारों ने इतिहास के अध्ययन तथा विश्लेषण के इस दृष्टिकोण को विकसित करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इसके अंतर्गत इतिहास के 'नीचे से अध्ययन' पर विशेष बल दिया गया।"[1] सबाल्टर्न से पर्याय अभिजन-समूह से बाहर रहे या शासक समूह से पीड़ित-प्रताड़ित वंचित समुदाय- दलित, स्त्री, श्रमिक-किसान वर्ग, अल्पसंख्यक आदि के साथ वे सभी जातियाँ जो ऐतिहासिक उत्पीड़न की शिकार रही हैं, उनकी आवाज़ को- उनके ऐतिहासिक बलिदान को- उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक-आंचलिक चेतना आदि को रेखांकित करना है। अर्थात हाशिए के समुदाय के ऐतिहासिक अवदान और उनके इतिहास को जानने-समझने की पद्धति। स्त्री-कविता में सबाल्टर्न चिंतन इन्हीं पद्धतियों की शिनाख़्त है। लैंगिक एवं जातीय (cast) पूर्वाग्रहों की शिकार दलित स्त्री समाज की सबसे अंतिम पंक्ति में खड़ी उपनिवेश है।

दलित स्त्रीवादी विमर्श की काव्यात्मक अभिव्यक्ति रजनी तिलक, सुशीला टाकभौरे, रजत रानी मीनू, रजनी अनुरागी तथा अनीता भारती आदि कवयित्रियों में दिखाई देती है। स्त्री-कविता का दलित स्वर, दलित स्त्री समुदाय की आकांक्षा, चिंता तथा सपनों की बुनावट की कविता है। ब्राह्मणवादी मानसिकता के अतिरेक की छाया उनके वर्ग के पुरुष वर्ग में भी कूट-कूट कर भर गई है। अतः विषमता और घृणा की दोहरी यंत्रणा झेलती दलित स्त्री रचनाकारों ने अपनी निजता, अपने अनुभव आदि को रचनात्मक प्रतिरोध के रूप में दर्ज़ किया है। स्त्री की

कोई जाति नहीं होती है, वह चाहे किसी भी वर्ग में हो, उसका दलन-शोषण भिन्न-भिन्न रूपों में सामने आता है। दलित स्त्री कवयित्रियाँ इस बात को भली-भाँति जानती हैं इसलिए वे सवर्णवादी मानसिकता से ग्रस्त स्त्री को ललकारती या फटकारती नहीं हैं बल्कि संवाद की पेशकश करती हैं। रजनी तिलक की कविताएं संवाद हेतु एक नयी उष्मा और प्रतिबद्धता ज़ाहिर करती हैं। रजनी तिलक एक वरिष्ठ कवयित्री होने के साथ ही एक प्रखर सामाजिक कार्यकर्ता भी रही हैं। उनके सामाजिक जीवन का विद्रोह ही उनकी कविताओं में पसरा पड़ा है। जीवन-संघर्ष की शुरुआत ही रजनी तिलक 'जीरो' से करती हैं "जीरो हूँ / जीरो से शुरू होकर / चलते हुए कदमों का / सपना देखती हूँ...! / जीरो हूँ / पर कर सकती हूँ / वो सब / जो असंभव है।"[2] यह उदात्त चेतना ही रजनी तिलक के सम्पूर्ण चिंतन की कुंजी है। असंभव को संभव करने का साहस। सामाजिक असमानता, अस्पृश्यता तथा अपमान दलित जाति की स्त्रियों को विरासत में मिलने वाली ग्रंथियाँ हैं जो किसी भी व्यक्तित्व को उठने से पहले ही दर्प कर देती हैं। रजनी तिलक की 'पदचाप' ऐसे दर्प को तोड़ती दलित स्त्री अस्मिता को एक नए इतिहास-निर्माण-प्रक्रिया से जोड़ती है। मुख्यधारा का साहित्य हो या सामाजिक गतिविधि ; सभी जगह दलित वर्ग की अपमानजनक अवस्थिति को रजनी तिलक आन्दोलन में बदलना चाहती हैं। अब तक प्रकाशित उनके दो काव्य संग्रह 'पदचाप' (2000) और 'हवा सी बेचैन युवतियाँ' (2014) की कविताएं आन्दोलनधर्मी विवेक और परिवर्तनकामी चेतना की कविताएं हैं।

'पदचाप' काव्य संग्रह की कविताएं स्त्री-मन के गहरे सवालों और सामाजिक दायित्वबोध को सामने लाती है। दलित विमर्श की चर्चा और गहमागहमी के बीच 'पदचाप' की ध्वनि दलित विमर्श की आधारशिला को झंकृत करती है। अब तक हुए दलित विमर्श पुरुषों के आत्मकथ्य व विमर्श थे, उसमें दलित स्त्री काफी पीछे छूट गई थी। इस तथ्य को ध्यान में रख रजनी तिलक लिखती हैं "मेरा पहला कविता संग्रह 'पदचाप' 2000 में तब आया, जब दलित साहित्य मुख्यधारा में अपनी जगह बना रहा था और साहित्य जगत में हिन्दी दलित साहित्य

को लेकर काफी हलचल थी। संवाद और बहस की तीखी झड़पें चल रही थीं। दलित साहित्य की इस बहस में पुरुष साहित्यकार ही सक्रिय थे। महिला दलित साहित्यकार पर्दे के पीछे थी।"[3] सन् 2000 में प्रकाशित रजनी तिलक की 'पदचाप' कई अर्थों में दलित समुदाय में पैठे ब्राह्मणवादी-पुंसवादी वृत्तियों को सामने लाने में सफल रही। 'पदचाप' कवयित्री के सामाजिक वेदना और विद्रोह की प्रबल अभिव्यक्ति है। इस संग्रह की अधिकांश कविताएं रजनी तिलक के सामाजिक-राजनैतिक संघर्षों को सामने लाती है। 'हवा सी बेचैन युवतियाँ' संग्रह की 'आदिपुरुष' कविता उस पुंसवादी सोच में गिरफ़्त दलित साहित्यकार के साथ ही ऐसी सोच रखने वाले पुरुषवादी चरित्र की खबर लेती है। दलित पुरुष कैसे अपनी खीझ, घृणा और जातीय उत्पीड़न, जो उसे तथाकथित सवर्ण समाज से मिले हैं, वह उसी की धौंस और अकुलाहट को अपने घर की स्त्रियों पर हिंसा के रूप निकालता है। कविता का कथ्य सपाटबयांनी होते हुए भी उनमें छुपे गहरे अर्थ को प्रकट करता है।

'हवा सी बेचैन युवतियाँ' (2014) संग्रह रजनी तिलक की वैचारिक उत्तेजना और सामाजिक पक्षधरता को प्रकट करता है। कवयित्री अब कविता को ठोस वैचारिक आधार देना चाहती है। समाज से मिली घृणा, अवमानना के बावजूद कवयित्री समाज के वृहद संकल्प हेतु संवादधर्मिता की शैली अपनाती है। इस संग्रह की अधिकांश कविताएं दलित समुदाय को न सिर्फ चेतनशील बनाती है अपितु भावी चुनौतियों से लड़ने के लिए सचेत भी करता है। कवयित्री का स्त्री-मन बार-बार कविता को संवेदना, चेतना तथा प्रतिबद्धता की कुंजी से कसना चाहता है। सम्पूर्ण स्त्री-जाति के प्रति संवेदना का भाव इस संग्रह की कविताओं को और भी विशिष्ट रूप प्रदान करता है। अपनी जातीय चेतना के साथ ही सामूहिक स्त्री-मुक्ति का उत्थान तथा पुंसवादी मूल्यों का खात्मा, कवयित्री का आज़ाद स्वप्न है। 'संवेदना', जीरो हूँ', 'हवा सी बेचैन युवतियाँ', तितलियों सी', 'बलात्कार', 'फर्क', 'कौन नाच रहा है', 'अनकही कहानियाँ' आदि कविताएं सहज सरल भाषा में रची समय की अकथ कहानियाँ हैं जिनमें कवयित्री के

ऐतिहासिक विवेक की सरल परिभाषा को देखा जा सकता है। प्रो. गोबिन्द प्रसाद इस संग्रह की कविताओं पर गंभीर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं – "संग्रह की अधिकांश कविताओं की साँसें स्त्री-मन में उठने वाले सहज प्रश्न और चिंताओं से बुनी गई हैं। चिंताओं के स्वरूप सुविधाभोगी समाज और दलित-सवर्ण स्त्रियों के आकांक्षा-अभाव के प्रश्नाकुल धागों से रचा गया है। स्त्री और स्त्री के बीच विषमता के कई रंग, कई चेहरे हैं। मगर ये रंग...ये चेहरे घृणा, आक्रोश के अतिरेक की उपज नहीं है। इनमें ब्राह्मणवादी मानसिकता को कोसा नहीं गया है। प्रतिपक्ष के प्रति दर्पभरी ललकार-फटकार भी नहीं है। बल्कि इसके बरअक्स इन कविताओं में संवादधर्मिता के कई भाव-स्तर ज्यादा प्रतीत होते हैं।"[4] यह कहना अतिकथन नहीं कि कवयित्री समाज और साहित्य के गहरे और गूढ़ सवालों को सहज-सरल रूप में पाठकों के समक्ष रखती है। संवादधर्मिता के जरिए ही स्त्री और स्त्री के बीच की विषमता को पाटा जा सकता है। रजनी तिलक का सामाजिक जीवन भी इस बात की तसदीक करता है। अपने समाज और साहित्य के लिए अधिक से अधिक काम करना और लोगों को नवाचार हेतु प्रोत्साहित करना ही उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य था।

रजनी तिलक स्त्री आन्दोलन को एक मजबूत आधार देने के लिए जीवनपर्यंत संघर्ष करती रहीं। उन्होंने 'भारतीय दलित पैन्थर्स' के नाम से एक संगठन की भी स्थापना की। इसके साथ ही उनके द्वारा स्थापित 'आह्वान थिएटर' एक समूह और युवा अध्ययन मण्डल निरंतर अपने समाज में जागरूकता फैलाने का काम रजनी तिलक के नेतृत्व में कर रहे थे। नारीवादी आन्दोलनों में भाग लेना, महिला श्रमिकों के अधिकारों के लिए सड़क पर उतरना तथा युवाओं की समस्याओं के लिए आवाज़ बुलंद करना आदि उन्हें एक सफल आन्दोलनकर्मी के रूप में स्थापित करता है। इस आन्दोलनकर्मी चेतना का प्रभाव इनकी कविताओं में भी स्पष्ट नज़र आता है। 'क्या कहूँ', 'कौन नाच रहा है', 'हाँ मैं लड़ाकी हूँ', 'तुम्हारे चीखने से', 'शिक्षा का परचम' आदि कविताएं विशेष रूप से आन्दोलन की चेतना से उपजी कविताएं हैं। 'शिक्षा का

परचम' इतिहास और मिथकीय चरित्र के अंतर को अनावृत करती स्त्री के संकल्प की कविता है। धार्मिक मिथकीय चरित्र से पृथक क्रांति और तेज़ की ललक को आत्मसात करना ही जीवन की सार्थकता है। समाज में पैठी मनुवादी ताकतों को अपनी प्रज्ञा से तिरोहित कर नए समाजशास्त्र की स्थापना ही कवयित्री का संदेश है : "तू पढ़ महाभारत / न बन कुंती, न द्रोपदी। / पढ़ रामायण / न बन सीता, न कैकयी। / पढ़ मनुस्मृति / उलट महाभारत, पलट रामायण। / फहरा शिक्षा का परचम।"[5] मिथकीय अथवा पूजनीय पात्रों की तुलना में अपने ऐतिहासिक नायकों, क्रांतिज्योति सावित्रीबाई फुले का जीवन-संघर्ष कवयित्री के काव्य मानस को नयी ऊर्जा से भर देता है। रामायण, महाभारत, मनुस्मृति के बरअक्स कानून, समाजशास्त्र तथा शिक्षा के परचम की स्थापना जीवन में वैज्ञानिक सोच की स्थापना है।

'फर्क', 'एकल माँ', तुम्हारी आस्थाओं ने', 'वजूद है', 'मेरे भाई' आदि अनेक कविताएं पितृसत्ता के दीवार को भेदती है। कवयित्री स्त्री-जीवन को जर्जर संकीर्णता, धार्मिक आस्थाओं और अछूतपन की ग्रंथि से मुक्त करना चाहती है। बलात्कृत स्त्री, दहेज के नाम पर जला दी गई स्त्री, अपने ही रिश्तेदारों-मित्रों-मालिकों के यौन उत्पीड़न को सहती स्त्री, आस्तिक आस्थाओं के नाम पर भूखी-बीमार स्त्री, घरेलू हिंसा की शिकार स्त्री आदि सभी की मुक्ति के लिए न सिर्फ कविता में बल्कि जमीनी स्तर पर भी कवयित्री न्याय के पक्ष में उठ खड़ी होती है। वह स्त्रीवाद को इन्हीं संदर्भों और चुनौतियों से लड़ते हुए एक वैचारिक आधार देती है। स्त्री-मुक्ति के असल मायने इन पीड़ित वर्गों को न्याय दिलाने में है न कि वातानुकूलित कक्ष में बैठकर सिद्धान्त बघारने में। रजनी तिलक बहुत सामान्य भाषा और अति सरल शब्दावली में कविता का वृत्तांत रचती है। पितृसत्ता जहां स्त्री-उत्पीड़न ही नहीं बल्कि उसकी हत्या, अपमान को भी सहजता से परिभाषित करता है वहाँ रजनी तिलक की कविता एक अंगोर की तरह प्रतिरोध की आग को सुलगाए रखती है। कवयित्री भलीभाँति जानती है कि वह जिस समाज में रह रही है वहाँ पूरी व्यवस्था पितृसत्ता की हिमायती है। समाज आज भी पितृसत्ता के मानकों पर ही

संचालित हो रहा है। इसलिए कवयित्री स्त्रियों के लिए, उनके उत्थान के लिए शिक्षा को अनिवार्य मानती है। शिक्षा द्वारा ही कूटनीतिक व्यवस्था को बदला जा सकता है। इस बदलाव के लिए कवयित्री बार-बार स्त्री समुदाय का आह्वान करती है : "बदलो! बदलो! बदलो / उत्पीड़न.... वेदना के स्वर / अपमान के गहरे इतिहास / अपने लिए बनाई भूमिका!"[6] अपमानित, उत्पीड़ित होती हुई स्त्री प्रतिरोध द्वारा ही शोषण के क्रूर इतिहास को खत्म कर नया इतिहास बना सकती है।

स्त्री-विमर्श की सीमाओं और उसके एक रेखीय ढर्रे पर कई कवयित्रियों ने सवाल उठाए है। स्त्री-विमर्श एक विशेष वर्ग की मुक्ति का नारा ही बनकर न रह जाए, इसलिए रजनी तिलक, नीलेश रघुवंशी, अनीता वर्मा, कात्यायनी जैसी कवयित्रियों ने स्त्री विमर्श के पैरोकारों की खरी आलोचना की है। रजनी तिलक इस विमर्श की अभिजात्यवादी नीतियों की आलोचना करते हुए स्त्रीवाद को गहरे सवालों से जोड़ती हैं। दलित-वंचित समुदाय की स्त्री हो या अशिक्षित कामकाजी मजदूर स्त्री अथवा घरों, दुकानों में नौकरानी की भूमिका मे श्रम कर रही स्त्री आदि सभी, स्त्री विमर्श के दायरे में होनी चाहिए। हाशिए पर जीवन बसर कर रही स्त्री की पीड़ा का अंदाज़ा लगाना मुश्किल है। रजनी तिलक की 'फर्क' कविता में इसे साफ तौर पर देखा जा सकता है। स्त्री के अपने अधिकार और सम्मान की लड़ाई में कई बार वर्ण और वर्ग हावी हो जाता है। कवयित्री स्त्री जाति के उत्थान के इस द्वैत रूप को, या संघर्ष को जमीन-आसमान के अंतर के रूप में देखती है। पहचान और स्वाभिमान की इस लड़ाई के अंतर को पाटना मुश्किल है फिर भी कवयित्री आशान्वित है कि सदियों के संघर्ष के बाद कोई 'मुक्तिबोध' पैदा होगा जो इस अंतर को पाटेगा। एक स्त्री के संघर्ष से दूसरे स्त्री के संघर्ष के बुनियादी फर्क को कवयित्री कई उदाहरणों से बताती है : "तुम्हारे मेरे संघर्ष में / यही है बुनियादी फर्क / मैं गंदे झोपड़े में पैदा हुई / तिल-तिल कर यहीं बड़ी हुई / होश संभालते ही / मैंने जी-तोड़ मेहनत की / तुमने स्कूल की दहलीज़ में / हवा पाई।"[7] शिक्षा की इस दहलीज तक पहुँचने के लिए भी वंचित समुदाय

की स्त्रियों को कई मोर्चों पर लड़ना होता है। भूख, गरीबी, अपमान और उपेक्षा को सहते उसे सदैव संघर्ष पथ पर ही चलना होगा। कवयित्री इसी कविता में आगे कहती भी है "मुझे हर सदी में लड़ना होगा / हजारों सीढ़ियाँ चढ़नी होंगी / तब मेरा संघर्ष / एक अधूरा... बिन लिखा इतिहास, / जो हजारों लाखों झोपड़ियों से / कठोर खुरदरे हाथों की / कसमसाती मुट्ठियों में, / मौन आँखों की कोर से / चिंगारी बन फूटेगा, / पैदा होगा 'मुक्तिबोध' / जो तुम्हारे-मेरे अंतर को / पाटेगा।"[8]

स्त्री-मुक्ति के इस साझा संघर्ष को रजनी तिलक एक स्थायी स्वर देना चाहती हैं। इसके लिए आवश्यक है कि स्त्री समुदाय समाज में धार्मिक-जातीय आडंबरों और उत्पीड़न के खिलाफ एकजुट हो। अपनी कहानी 'बेस्ट ऑफ करवा चौथ' तथा आत्मकथा 'अपनी जमीं, अपना आसमां' में रजनी तिलक जातिवादी-पुरुषवादी मानसिकता को सामने रखती हैं। इन जकड़नों में फंसी स्त्री की नियति और भी भयावह है। उत्तर भारतीय समाज में दलित महिला के साथ होने वाले भेदभाव, जातीय उत्पीड़न को उनकी आत्मकथा मुखरता से सामने लाती है। यह आकस्मिक नहीं कि आत्मकथाकार रजनी तिलक अपनी कविताओं में नवोन्मेषी तथा नवाचार हेतु प्रयासरत दिखती हैं।

रजनी तिलक स्त्री-मुक्ति की एक वृहद संकल्पना अपनी कविताओं में रचती है। वे घरेलू स्त्री और बाजारू स्त्री के बीच आने वाली सभी स्त्रियों की पीड़ा समझती हुई, आज़ादी की बात करती हैं। अपने जीवन में आन्दोलन, संघर्ष और कविता को एकमेक करती कवयित्री बेजार औरतों की कहानियाँ कहती है। दलित समाज की राजनीतिक चेतना पर भी उन्हें भरोसा है इसलिए सुश्री मायावती से इतिहास बदलने की उम्मीद करती है। अंततः रजनी तिलक का सम्पूर्ण लेखन समाजोन्मुखी बनता दिखता है। अपने समाज में शिक्षा, रोजगार पर ज़ोर और धार्मिक आस्थाओं के प्रपंच से मुक्ति उनका अंतिम लक्ष्य है। लेखन के साथ-साथ जमीनी स्तर

पर काम करना सबके बूते की बात नहीं। रजनी तिलक अपने सरल, सहज भाव की कविताओं से जीवन के बड़े लक्ष्यों के संदेश दे जाती हैं।

समाज में हर स्तर पर दोहरा अभिशाप झेलती दलित स्त्री का एक भयानक त्रासद चित्र सुशीला टाकभौरे की कविताओं में अभिव्यक्त हुआ है। दलित स्त्रीवादी कविता का क्रांति और प्रतिशोध का तेवर इनकी कविताओं को अलग पंक्ति में खड़ा करता है। अम्बेडकरवादी विचारधारा इनकी कविताओं का मेरुदण्ड है। सुशीला जी अपने समाज में जातीय उत्पीड़न को राष्ट्रीय अभिशाप और अपराध के रूप में चित्रित कर सवर्ण समाज से सीधे टकराती हैं, उनसे प्रश्न करती हैं, उनके घृणित व्यवहारों से घृणा करती हैं। उनकी आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' उनके सामाजिक-राजनैतिक अनुभवों के साथ समाज की वर्चस्ववादी ताकतों की निरंकुशता का दस्तावेज़ है। सुशीला टाकभौरे की कविता दलित अस्मिता और स्त्री अस्मिता के फ्रेम को रचती विचारों-प्रश्नों एवं बहसों की अंबार को खड़ा करती है। प्रश्न उन सभी धार्मिक-ऐतिहासिक-सामाजिक तथा मिथकीय संरचनाओं से जो समाज में वर्षों से दलित जातियों को अमानवीय पीड़ा के भँवर में फंसाए रखा है। दलित साहित्य की अवधारणा इस अमानवीय पीड़ा को दलित विमर्श का आधार बनाती है तथा अपने समाज को न्याय के लिए अभिप्रेरित करती है।

सुशीला टाकभौरे के चार कविता संग्रह – 'स्वाति बूँद और खाड़े मोती' (1993), 'यह तुम भी जानो' (1994), 'तुमने उसे कब पहचाना' (1995), और 'हमारे हिस्से का सूरज' (2005) प्रकाशित हो चुके हैं। इनका कविताई मिजाज बिल्कुल विद्रोही है। दलित समाज और दलित स्त्री दोनों ही वर्गों पर शोषण की मार अलग है। दलित स्त्री यातना के चक्र में अपने वर्ण और तथाकथित सवर्ण समाज में निरंतर पिसती है। तमिल भाषा की प्रखर कवयित्री सरूपारानी दलित स्त्री की अनंत पीड़ा-अपमान और उनके लेखन के मूल उत्स को यूँ व्यक्त करती हैं :

"घर में पुरुष अहंकार एक गाल पर थप्पड़ मारता है

तो गली में वर्ण-आधिपत्य दूसरे गाल पर।''-सरुपारानी (तमिल कवयित्री)

यह उक्ति सम्पूर्ण दलित स्त्री अस्मिता और लेखन में बार-बार उस दहशत की पुनरावृत्ति के कारणों को स्पष्ट करती है। सुशीला टाकभौरे के चारों काव्य संग्रहों में जातीय उत्पीड़न से मुक्ति और स्त्री-पुरुष समानता का उद्घोष है। जाति और लिंग की विषमता को समाज में स्थापित करने वाला तथाकथित उच्चवर्ग ने समाज के विकास को बाधित किया है। झूठे ज्ञान का प्रदर्शन, स्वर्ग-नरक का स्वाँग, मनगढ़ंत धर्म-कथा, पुरुष केन्द्रित कथा आदि के जरिए हाशिए के समाज के साथ जालसाजी और धोखेबाज़ी कर उन्हें दिग्भ्रमित करना ही इनका उद्देश्य रहा है। सुशीला जी इन धर्म और जाति के ठेकेदारों को चुनौती देती हैं। समाज में जड़ हो चुकी मानसिकता को जगाने का प्रयत्न है सुशीला जी की कविताएं। 'स्वाति बूँद और खारे मोती' तथा 'यह तुम भी जानो' की कविताएं सामाजिक न्याय और युवाओं के उद्बोधन की कविताएं हैं। पौराणिक एवं मिथकीय चरित्रों के सहारे कवयित्री सभ्य समाज की असभ्य विचारवीथी को परत-दर-परत सामने रखती है। दीन-दुखियों तथा शोषित जनों के लिए प्रतिबद्ध सुशीला टाकभौरे की कविताएं उनके प्रखर विचार और आन्दोलन से ही उपजी है। झूठे ज्ञान का प्रदर्शन या लोकरंजन के बजाय उनकी 'कविता धारा' श्रमशील जातियों के कठोर सत्य को सामने रखती है : "मेरी कविता कल्पना नहीं / प्रवंचना नहीं / झूठे ज्ञान का प्रदर्शन नहीं, / सत्य के धरातल की / कठोर बात है! / मेरी कविता / मनोरंजन नहीं / लोकरंजन नहीं, / श्रम से उपजे पसीने की बात है। / मेरी कविता / कुदाल है, हथियार, / फटकार है, ललकार है / दीन-दुखियों के लिए / न्याय की पुकार है।"[9] मानवता का यह लक्ष्य पूरा करने के लिए कवयित्री कविता को एक मिशन की तरह देखती है। कविता को कुदाल, हथियार, फटकार, ललकार तथा दीन-दुखियों के लिए न्याय के रूप में देखना मानव-जीवन में कविता की महत्ता को स्थापित करता है।

सामाजिक-धार्मिक विषमता और वर्ण-जाति की श्रेष्ठता आदि के तानाशाही विचार के खिलाफ सुशीला टाकभौरे की कविताएं जागृत करती हैं। संविधान की स्वतंत्रता, समानता आदि

के मूल्यों को कविता के मार्फत अपने समाज तक पहुँचाना तथा युवाओं में वैज्ञानिक चेतना का प्रसार करना कवयित्री का मुख्य लक्ष्य है। धर्म, ईश्वर, कर्मकांड, चमत्कार, करिश्मा के बहकावे में न उलझकर मानवता को ही एकमात्र धर्म मानना मनुष्यता की सबसे बड़ी सीख है। सामाजिक उत्थान के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति छल-छद्म, संकीर्णता, अकर्मण्यता आदि से परे जाकर मानवता, बंधुता आदि मूल्यों को अग्रसारित करें। 'साहस', 'आग का धर्म', 'आस्था', 'भील एकलव्य', 'तुम, ओ बाल्य', 'सुनो विक्रम', 'आक्रोश', 'नया इतिहास', 'यह तो शर्म की बात है', 'बुद्धिवादी चिंतन' आदि कविताएं सदियों से अन्याय और अपमान झेल रही व्यथित मन की पीड़ा है। इस पीड़ा से उबरना, अपने आत्मविश्वास को मजबूत बनाने का एकमात्र विकल्प जीवनपर्यंत संघर्ष है। अपने पूर्वजों की गुलामी संस्कृति से मुक्त होकर नए समाज, नया इतिहास तथा नए रचना-विधान की नींव रखना ही सच्चे अर्थों में मनुष्य होना है। जातिगत बेड़ियाँ, अंधी गुरुभक्ति, कर्महीन-निराशा उत्पन्न करने वाले ग्रंथ व उपदेश दलित समाज को भेदभाव की गहरी खाई में ले जाता है। कवयित्री ने भील एकलव्य, वाल्मीकि तथा विक्रम बैताल आदि की कहानियों में शोषित दलित-बहुजन समाज के संदर्भ को नए सिरे से उभारा है। कवयित्री ऊंच-नीच, असमानता एवं विषमता, जलना-जलाना आदि के स्थान पर 'अप्प दीपो' का संदेश देती है। एकलव्य का अँगूठा कटने पर पूरे समाज की नपुंसकता तथा अंधी गुरुभक्ति पर कवयित्री उस समाज को धिक्कारती है।

'ओ, बाल्या' कविता वाल्मीकि को संबोधित एक आधुनिक संदेश है। शोषक वर्ग के खिलाफ, आभिजात्यवादी वर्ग के खिलाफ संघर्ष के बीज वाल्मीकि ने ही दिए थे। शबरी, शंबूक, क्रौंच के अभिशप्त जीवन को न्याय की प्रेरणा देने वाले वाल्मीकि ने महात्मा राम के अपराध को छिपाया नहीं था। इसी तरह वर्षों से कंधों पर लादे कथाओं का बैताल, विक्रम को कवयित्री सामाजिक असामानता के खिलाफ जिरह करने के लिए आह्वान करती है। आदर्श और प्रेम, राजा-प्रजा की जगह अपमान, बेबसी में डूबी जनमानस की कथाओं को कहना भी

जरूरी है। अभिजात्यवादी वर्ग ने इस जन-समाज को अमानव, पशुतुल्य समझकर इन पर कर्मकांडों की झड़ी लगा दी। इस वर्ग को कथा-परम्परा में मनुष्य का दर्जा भी प्राप्त नहीं है। कवयित्री विक्रम के इस अभिजात्यावादी कथा के खिलाफ झूठे किस्से गढ़ने का प्रतिवाद करती हुई कहती है : "मत गढ़ो किस्से सामाजिक समता के, / अस्मिता की पुकार, / कथा परंपरा की / भेड़चाल नहीं हो सकती! / कब मिलेगा पशुतुल्य मानव को / अधिकार! / कब बदलेंगे कर्मकांड! / कब मिलेगा सामाजिक न्याय! / पूछो उससे, / अन्यथा / कर दो उसके टुकड़े टुकड़े।"[10] यह प्रतिरोध उस अमानवीय वर्णवादी व्यवस्था का परिणाम है जो स्वयं को श्रेष्ठ और दूसरे को नीच समझती है। प्रो. रेखा सेठी, सुशीला टाकभौरे की कविताओं पर टिप्पणी करते हुए लिखती हैं : "सुशीला एक ओर दलितों को अपने आत्मसम्मान के लिए अपनी अस्मिता के प्रति सचेत होने का आह्वान करती हैं तो दूसरी ओर सवर्णों को शर्मसार भी करती हैं। यातना के स्वर हुंकार में बदल रहे हैं, इसका आभास देते हुए जताती हैं कि जिनको सवर्णों ने अछूत माना, जिनकी छाया से भी परहेज़ किया वे जब तुम्हारी बराबरी में कुर्सी पर आ बैठे तो तुम्हारा हृदय क्यों फटता है। ये छोटे-छोटे विवरण सामाजिक ताने-बाने पर एक बहस खड़ी करने के साथ-साथ सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया की पहल भी बनते हैं।"[11]

सुशीला जी की कविताओं में दलित समुदाय की स्त्रियाँ भी इसी क्रांति की मशाल की रहनुमाई करती हैं। अच्छी और गुणवान स्त्री की तुलना में अस्मिताचेतस, अस्तित्व चेतस स्त्री की छवि को कवयित्री गढ़ती है। धरती, आसमां और प्रकृति से अपने को जोड़ते हुए स्त्री, वैश्विक बोध की अनंत संभावनाओं की तलाश में निकलती है। सदियों से दोहरे शोषण को झेलने के बाद आज वह अपना उपभोग और उपयोग नहीं होने देना चाहती है, अब वह अपने सम्मान के लिए, अपने अस्तित्व के लिए तथा अपने आत्मोत्थान के लिए हर लड़ाई लड़ने को तैयार है : "सदियों से / शोषित-पीड़ित / अब नहीं रह सकती मैं! / मेरा इतिहास है, स्वाभिमान है, गौरव है / अपने अस्तित्व के लिए / लड़ सकती हूँ मैं, / जल थल नभ की / हर लड़ाई चुनौती के

साथ।"[12] अपने इतिहास, स्वाभिमान, गौरव और अस्तित्व का भान स्त्रीत्व को नए सिरे से परिभाषित करता है। 'अनन्त असीम दिगन्त' और 'अनन्त आसमान' की चाह लिए कवयित्री 'सबकी नज़र बनना चाहती है'। जाति-धर्म की बंदिशों के परे मानवता का संदेश प्रसारित करती कवयित्री अपने समाज की स्त्रियों को वैश्विक चेतना से भर देना चाहती है। समाज में ऊंच-नीच तथा स्त्री होने की शर्मिंदगी से परे जाकर स्वयं को 'मील का पत्थर' बनते देखना चाहती है। अर्थात अपने समाज, अपने राष्ट्र के लिए उत्सर्ग करने वाली विदुषी अब स्वयं को समाज का एक समर्थ नागरिक के रूप में जान चुकी है : "मैं भी / मील का एक पत्थर हूँ / जो टेकरी ही नहीं / पहाड़ों से भी - / अधिक महत्त्व रखता है!"[13] सुशीला जी का यह आत्मविश्वास और आत्मगौरव का अहसास ही दलित स्त्री-कविता की ताकत है। वह अपने समाज की तमाम कमजोरियों को जान चुकी है। इसलिए अब वह गंभीरता से स्त्री-समाज को, जातीय दंश से पीड़ित मानवता को नया उत्साह और दृढ़ वैचारिक प्रतिबद्धता देना चाहती है। अपने समाज की अच्छाई और बुराई की समीक्षा करते हुए कवयित्री आत्मावलोकन तथा आत्मालोचन पर भी ज़ोर देती है। देवी, प्रगल्भा, सीता, सावित्री आदि मिथकीय चरित्र उनकी प्रेरणा नहीं बन पाती हैं। ये पितृसत्ता के षड्यंत्रकारी नीतियों में छली गई हैं। अपने संघर्ष के तार को साबित्रीबाई फुले-ज्योतिबा फुले, महात्मा बुद्ध तथा बाबासाहब अम्बेडकर जैसे ऐतिहासिक चरित्रों से जोड़ती हैं।

सुशीला टाकभौरे की स्त्री-केन्द्रित कविताओं में दलित अस्मिता का भाव निहित होते हुए भी स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व पर अधिक बल है। 'कितने करीब', 'विद्रोहिणी', 'नमूना', 'मैं तत्पर हूँ', 'मील का पत्थर', 'आस्था', 'स्त्री' आदि कविताएं दलित स्त्री की पीड़ा व संघर्ष की यात्रा है जो उसे पुरुष प्रधान समाज की बीहड़ गलाजत से मुक्त करती हुई अपनी अस्मिता के प्रति सचेत करती है। वहीं दूसरी ओर 'युग चेतना', 'तुमने उसे कब पहचाना', 'अनुत्तरित प्रश्न', 'मैंने कुछ शब्द जोड़े हैं', 'मासूम भोली लड़की', 'आज की खुद्दार औरत' आदि कविताएं स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व को स्थापित करते हुए उसे संवैधानिक मूल्यों से लैस एक नागरिक के रूप

में भी प्रतिष्ठित करती हैं। कवयित्री सवर्णवादी अथवा मर्यादावादी स्त्री के चोले को उतार फेंकना चाहती है। मनुवादी स्त्री विषयक मानकों पर कवयित्री कठोर प्रहार करती है। स्त्री को शरीर और उसकी यौनिकता के आधार पर या उसकी जाति के आधार पर उसे कमजोर अथवा पुरुष के हाथों का खिलौना समझने आदि मनुवादी विचारों से कवयित्री असहमती व्यक्त करती है। समाज में व्याप्त मनुवादी ढाँचा स्त्री को और भी वीभत्स स्थिति में पहुँचा देता है। कवयित्री इस पूरी मनुवादी आस्था का विरोध करती है : "पुरुष प्रधान समाज में / चाहे समर्पण हो / या विद्रोह, / दुर्गुण का दोष नारी पर है! / पुरुष के दुर्गुणों पर हमेशा मनु- नाम की / चादर डाली जाती है।"[14] इस मनुवादी, पुरुषवादी व्यवस्था में एक स्त्री का बोलना, लिखना तथा स्वतंत्र चिंतन निषिद्ध है। मनुवाद एक पहरे की तरह स्त्री को घर की देहरी के भीतर ही दुबकाए रखता है। इसका प्रतिकार कभी-कभी स्त्रियों के लिए सामूहिक हिंसा तथा अपमान में परिणत होता दिखता है।

सुशीला जी की बयान सरीखी कविताओं का भाव एवं उद्देश्य स्पष्ट है। वह अपने समाज को अम्बेडकर के लक्ष्यों पर चलने की प्रेरणा देती हैं। शिक्षित होकर, संघर्ष करना तथा मनुवादी-जातिवादी-विषमतावादी सामाजिक नीतियों को बदलना ही उनका प्रथम और अंतिम ध्येय है। इस ध्येय पूर्ति हेतु अपने समाज के पुरुष साथियों से कवयित्री ज्योतिबा फुले बनने का आह्वान करती हैं और स्वयं सावित्री फुले बनकर सामाजिक-जातीय अन्याय के खिलाफ लड़ना चाहती हैं। अपने समय में बढ़ रहे जातीय द्वेष तथा भाग्यवादी प्रवृत्तियों पर कवयित्री अपने समाज पर तंज़ कसती है। शिक्षा-संघर्ष की ओर न जाकर जातिगत पेशा में ही लगे रहना तथा भाग्य खुलने का इंतजार करने वाले दलित समाज पर कवयित्री का गुस्सा फूट पड़ता है। शिक्षित तथा सम्मानीय पदों पर पहुँचने के बावजूद जातिसूचक नाम देना, गालियाँ देना तथा घृणित व्यवहार करना सवर्ण समाज की कूटनीति का ही हिस्सा है जिसे दलित समाज समझना तो दूर, सुनना भी नहीं चाहता है। वह बाबासाहब के मूल्यों-संघर्षों को भूल हिन्दू धर्म-नीति के बहकावे में पुनः वर्ण-व्यवस्था को पोषित कर रहा है। वही वर्ण-व्यवस्था जो उन्हें शूद्र-अंत्यज तथा नीच समझती

है। कवयित्री दलितों में भी महादलित समाज चूहड़ा, भंगी आदि समुदाय को ऐतिहासिक अन्याय-अत्याचार के खिलाफ खड़ा करना चाहती है। अन्याय को मिटाने के लिए समाज के इस व्यवहार और सोच को बदलना होगा अन्यथा शिक्षित सम्मानित होने के बावजूद भी जातिसूचक गालियाँ सुननी होगीं। 'यातना के स्वर' कविता में कवयित्री लिखती भी है: "बदलना होगा / नासमझ प्रतीक्षा को / संघर्षशील क्रांतिकारी आन्दोलन में / अन्यथा / पी-एच.डी. प्राप्त / कॉलेज की अध्यापिका / जाति के नाम पर / आज भी कहलाती रहेगी / सिर्फ 'झाड़ूवाली'।"[15] इस यातना से उबरने के लिए बौद्धिक क्रांति तथा शिक्षा ही एकमात्र हथियार है।

दलित समाज की शिक्षित, संघर्षशील स्त्रियाँ अब अपने अधिकारों तथा सामाजिक उत्थान के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर रही हैं। समस्त स्त्री समाज को जागृति का पाठ पढ़ाती 'आज की खुद्दार औरतें' अब पुरुषवादी पाठ को नकार रही हैं। कवयित्री सुशीला टाकभौरे की कविताएं स्त्री को सम्पूर्ण इकाई की तरह देखने का रचनात्मक प्रयास है। स्त्री-व्यक्तित्व को टुकड़ों में देखना ही स्त्री-व्यक्तित्व को खंडित करना है। 'मेरी स्थिति' कविता में कवयित्री ने स्त्री को संपूर्णता में आंकने की चाहत पेश की है। स्त्री-शरीर को कभी कला के नाम पर, कभी वास्तु-शिल्प-चित्रकला में तो कभी आँखों की वासना की तृप्ति के लिए उसके शरीर को मांसलता का तथा देह को प्रदर्शनी का पर्याय बनाया गया। अजन्ता एलोरा के छवि चित्रों-आकृतियों में स्त्री के यौनांग का कामुक प्रदर्शन उसकी आत्म-चेतना छीन कर उसे केवल एक शरीर-रूप में ही आधिष्ठित करती है। समाज में स्त्री-शरीर को अपवित्र मानने का चलन आम है, उसके मासिक धर्म हो या मातृत्व की यात्रा सभी स्थानों पर सामाजिक रूढ़ियाँ उसे कमतर मनुष्य साबित करने का प्रयत्न करती हैं। सुशीला टाकभौरे स्त्री के इस पितृसत्तात्मक छवि को तोड़ती है। अब नारी केवल श्रद्धा या देव-सृष्टि की रति-रानी नहीं बल्कि वह शक्ति है, स्वयं में पूर्ण महायज्ञ है। कवयित्री ने स्त्री की पारिवारिक-सामाजिक अवस्थिति से अलग उसे एक 'हाड़-

मांस की जीवित भावना' के रूप में प्रतिष्ठित किया है। जीवन के वृहद उद्देश्य से स्त्री-जीवन को जोड़ती हुई कवयित्री उसके मानवी रूप को स्थापित करती है।

सवर्ण समाज की कूटनीति एवं दलित समाज की जड़ता इन दोनों के खिलाफ कवयित्री अपनी कविताओं में मोर्चा खोलती है। दलित समाज की जड़ता का कारण भी सवर्ण समाज की कूटनीतिक चालें रही हैं। वह उसे धर्म-संस्कृति की आड़ में अपना गुलाम बनाए रखता है। कवयित्री बार-बार अपनी कविताओं में दलित उद्धारक डॉ. भीमराव अम्बेडकर, ज्योतिबा फुले तथा सावित्रीबाइ फुले आदि का स्मरण अपनी जातीय उत्थान के लिए करती है। अम्बेडकर पर लिखी दर्जनों कविताएं उनकी वैचारिक आस्था का प्रमाण है। अम्बेडकर को कवयित्री अपने समाज का 'क्रांतिसूर्य', 'महामानव', 'महापुरुष' आदि के रूप में देखती है। उनके प्रगतिशील विचारों एवं उनके द्वारा दिखाये गए रास्तों पर चल कर ही दलित समाज का सम्पूर्ण विकास संभव है। क्योंकि दुनिया को मुखरता से पहली बार डॉ. अम्बेडकर ने ही अपनी सामाजिक धार्मिक विषमता, अछूतपन और हिन्दू धर्म की कट्टरता से परिचित करवाया था। हिन्दू धर्म की अमानवीय प्रचारात्मक नीतियों की आलोचना कर अम्बेडकर दलित समाज को आगे बढ़ने, शिक्षित होने तथा संघर्ष करने की प्रेरणा देते हैं : "पूरे विश्व के समक्ष डॉ. अम्बेडकर ने / दलितों की पीड़ा को बताया, / समता-सम्मान के अधिकार के लिए / उन्हें लड़ना सिखाया / फिर भी, दलितों में दलित / नहीं समझ सके अपना हित / हिन्दू धर्म-नीति के बहकावे में / नहीं देख सके अपना वर्तमान और भविष्य।"[16]

समाज की प्रगति और परिवर्तन के लिए, शूद्र-अंत्यज-अछूत के कथित सामाजिक अभिशाप से मुक्ति के लिए, धर्म-संस्कृति के झूठी स्वार्थपरक-भ्रमजाल से जागृति के लिए, सदियों की दासता, अभावों, पीड़ाओं तथा अपमान से मुक्ति के लिए डॉ. भीमराव अम्बेडकर के आदर्श विचारों को ही अपनाना होगा। स्वतंत्रता, समानता, बहनापा, भाईचारा, न्याय तथा विश्वबंधुत्व अम्बेडकरवादी समाज की आधारभूत संरचना है। कवयित्री अम्बेडकर के स्वप्न

को पूरा करने के लिए अपने समाज से आह्वान करती है। वह अपने समाज-राष्ट्र को शिक्षा, वैज्ञानिक चेतना तथा तर्क-पद्धति से लैस देखना चाहती है। 'जय भीम' का नारा उनमें स्पंदन पैदा करता है - कुछ नया कर-गुजरने के लिए! कवयित्री अपनी विचार-यात्रा में सवर्ण समाज के घृणित व्यवहारों-विचारों आदि की खरी आलोचना करती है। 'यातना के स्वर', 'अब तो शर्म करो', 'भ्रमजाल', 'अभावों की दुनिया', 'दलितों के मसीहा', 'पूर्ण करेंगे हम', 'चुप रहकर सोचो', 'हमारे हिस्से का सूरज' आदि कविताएं अम्बेडकर के सपनों को पूरा करने के संकल्प तो हैं ही, मगर साथ ही सवर्ण समाज के कूटनीतिक खेलों का भी भंडाफोड़ किया गया है। दलित समाज में घुस आई सवर्णवादी वृत्तियों से भी सुशीला जी दो-चार होती हैं। इन कविताओं का कथ्य एवं शिल्प अति साधारण होने के साथ ही कई बार प्रतिक्रियावादी लग सकता है लेकिन इनकी प्रामाणिकता को झुठलाया नहीं जा सकता है। कविताओं में कई बार आत्मकथात्मक स्वर अनायास ही दिख पड़ता है जो शब्दों-भावों के हल्केपन के बावजूद गंभीर प्रभाव उत्पन्न करता है। कुछ कविताओं में विशेषकर 'वह मर्द की तरह जिएगी' या 'लौट जाओ तुम' आदि में पुनः उसी खोल में जाने की कोशिश है जिनसे मुक्ति के लिए यह पूरा संघर्ष किया जा रहा है। ऐसी भावना तथा शत्रुता भाव से बचने की आवश्यकता है। यह दलित अस्मिता, संघर्ष और संकल्प को कमजोर कर सकता है।

'पिता भी तो होते हैं माँ' की एक नयी अनुगूँज लिए अपने समय की प्रख्यात कवयित्री रजत रानी 'मीनू' की कविताओं में भी दलित महानायक बुद्ध-अम्बेडकर तथा ज्योतिबा-फुले बार-बार आते हैं। अपने समय, अपने अतीत और अपने इतिहास के मूल्यांकन के औज़ार सभी दलित रचनाकारों को इन्हीं विचारकों-चिंतकों के जीवन-संघर्ष में मिलता है। रजत रानी 'मीनू' की कविताएं दलित स्त्री-कविता की नयी पहल है जहाँ से सैकड़ों राहें खुलती हैं। अलिखा-अदीखा दलित स्त्री का संवेदनापरक इतिहास उनकी कविताओं में ताकता-झाँकता है। 'पिता भी तो होते हैं माँ' उसी इतिहास की नवीन दृष्टि की उपज है। 'पितृसत्ता और जातीय पूर्वग्रहों से

मुक्ति तलाशती कविताएं' उनके पारिवारिक-सामाजिक और जातीय उत्पीड़न की विभिन्न अवस्थाओं की साक्षी हैं। ये कविताएं कविता से अधिक कवयित्री की निजी दुनिया के स्वप्न और आत्मकथ्य हैं, भोगा हुआ यथार्थ है। दलित स्त्री की पीड़ा, उपेक्षा भाव के साथ ही उपलब्धियों के छोटे-छोटे सफर की कहानियाँ भी कवयित्री की स्मृतियों में सुरक्षित है। जातीय भेदभाव, अस्पृश्यता के कटु अनुभव ही कवयित्री के लिए कविता लिखने की प्रेरणा बनते हैं। समाज में फैले पूर्वाग्रहों-दुराग्रहों तथा सवर्णवादी ओछी मानसिकता जिसके तले जातिसूचक गालियों, उत्पीड़नों एवं अधिकारहीनता के जंजाल में एक दलित स्त्री को कैद कर दिया जाता है उसी की अभिव्यक्ति है रजत रानी 'मीनू' की कविताएं! उनका अपना निजी-सार्वजनिक जीवन-संघर्ष ही काव्य-सर्जना का मूल उत्स है। अपने कविता संग्रह 'पिता भी तो होते हैं माँ' की भूमिका (सबब और सिलसिला) में वे लिखती भी हैं - "मैंने कविताओं का लेखन मात्र कविता लिखने के लिए नहीं किया। मेरी चिंता में मेरा परिवार - मेरा समाज रहा है। इस सामाजिक व्यवस्था में दर्द से कराहते हुए दलित और स्त्री को देखा तो मेरी संवेदनाएं और भी गहरी होती गईं। आँसुओं के रूप में ये कविताएं सृजित हुईं। कविताओं ने कभी-कभी दर्द की दवा बन कर मरहम का काम भी किया। इस तरह मेरी कविताओं का सृजन स्त्री-पुरुष और जाति भेद की गहन विडम्बनाओं के झंझावातों से उलझ कर हुआ है।"[17] परिवार के साथ-साथ सामाजिक दंश की अनुभूत पीड़ा की सहयात्री हैं उनकी कविताएं।

रजत रानी 'मीनू' की कविताओं का ग्राफ पारिवारिक अनुभूतियों से आरंभ होकर सामाजिक निकायों तक जाता है तथा व्यवस्था की कपटनीति का पर्दाफाश करता है। आर्थिक बदहाली और सामाजिक विषमता के वातावरण में ममत्व की छाया से वंचित हो जाना कवयित्री के लिए कष्टकारी तो था ही लेकिन 'मम्मी बनते पापा' की नयी उजास ने कवयित्री के जीवन को नया अर्थ दिया है। इस नए जीवन के संघर्ष और इसकी चुनौतियाँ भी उतनी ही क्रूर थी जितना कि कदम-कदम पर दलित होने की पीड़ा का अनुभव! जाति व्यवस्था की क्रूरता और

दंश मानव सभ्यता के विकास की सबसे बड़ी खाई है जिसे पाटना आज भी संभव नहीं हो पा रहा है। समाज के तथाकथित सवर्ण व्यवस्था की अमानुषिक नीतियाँ, आसमान व्यवहार ने मनुष्यता के गौरव को कलंकित कर अपना हित साधने का प्रयास वर्षों से करते रहा है। इस हित साधन में ऐसी-ऐसी व्यवस्थाएं-धारणाएं निर्मित की गईं जो एक ही समान दिखने वाले दो मनुष्यों के बीच, एक को पूजनीय तो दूसरे को घृणा का पात्र बना दिया। अतः वर्ण व्यवस्था कोढ़ की भाँति समाज को पूरी तरह नष्ट करने का काम करती है। आज जातीय द्वेष, नफरत व उन्माद की घृणित राजनीति को साफ देखा जा सकता है। इस व्यवस्था में दलित स्त्री की नियति और भी बदतर है।

स्त्री-कविता की परंपरा में सबाल्टर्न चिंतन का यह पक्ष पूरे दलित समुदाय का एक परिप्रेक्ष्य निर्मित करता है। अपने हक और हकूक के लिए कलम को हथियार बनाना तथा बिना किसी अलंकरण या मुलम्मे के ; अभिधात्मक स्वर में अपनी व्यथा को कविता का रूप देना ही सबाल्टर्न की वाणी है। दलित समुदाय से आने वाली कवयित्री हों या गैर दलित कवयित्रियाँ आदि सभी ने हाशिए के दंश को— उसके जीवन को किसी-न-किसी रूप में देखा है, भोगा है। अतः उनकी कविताओं में आए छवि-छित्रों, बिंबों से ही उक्त समाज की त्रासदी को महसूस किया जा सकता है। जब अनामिका कहती हैं "चिड़िया, चींटी, मुर्गी—जो भी कहो हमको - / वाल्मीकि का था जो सीता से, / भाव का अभाव से : / रिश्ता है वही हमारा तुमसे।"[18] तो प्रकारांतर से उस जातिवादी-पुरुषवादी पदानुक्रम को तोड़कर बहनापा भाव से संसार भर की स्त्रियों को झपाके से गले लगाना चाहती हैं। रजनी तिलक, सुशीला टाकभौरे और रजत रानी 'मीनू' आदि सभी कवयित्रियाँ अंततः सामाजिक समता, संप्रभुता तथा स्वायत्तता की चाहत लिए एक जेंडर न्यूट्रल समाज की परिकल्पना करती हैं।

ii. स्त्री-कविता का आदिवासी स्वर :

"5000 वर्षों से बची आ रही आदिवासी वाचिक परंपरा ने अब मुस्तैदी से कलम भी संभाल ली है। ये कलम अब 'तीर' बनने की प्रक्रिया में है। 'तीर', जो भेद रहा है इस अन्यायी, अ-समान व्यवस्था को। 'कलम का यह तीर' केवल हृदय ही नहीं भेद रहा बल्कि वह देश के नीति-निर्धारकों के रुख को भी पलटने की तैयारी में है। यह कलम नीति नियन्ताओं को सावधान कर रही है कि बस! अब और नहीं। वह अतीत के आदिम इतिहास से लेकर वर्तमान के घटनाक्रम को दर्ज कर रही है, तो भविष्य के नए सपने/संकल्प भी गढ़ रही है। वह प्रकृति के अनेक नए व बेजोड़ प्रतीकों, रूपकों और उपमाओं से साहित्य को समृद्ध कर रही है।"[19] रमणिका गुप्ता का यह कथन आदिवासी साहित्य की प्रस्तावना है। साहित्य, संस्कृति तथा इतिहास की अभिजात्यवादी व्याख्या ने समाज के अनगिनत तबकों को गुमराह किया है। दलित, अल्पसंख्यक तथा आदिवासी समुदाय तथाकथित इतिहास और संस्कृति में अपने मूल स्वरूप एवं गाथाओं को नहीं देख पाते हैं। उन्हें या तो गुलाम, दास के रूप में चित्रित किया गया या असभ्य, कुरूप या असुर आदि के रूप में! आधुनिकता और शिक्षा की चेतना ने जब इन्हें सम्पन्न किया तो ये अपने इतिहास, अपनी संस्कृति के लिए संघर्ष करने लगे।

आदिवासी साहित्य हिंदी साहित्येतिहास के समक्ष सैकड़ों प्रश्नों के साथ एक बड़े विमर्श का रूप धारण करता है। साहित्येतिहास में उनकी अनुपस्थिति उन्हें निराश करती है; थोड़ी बहुत जो उपस्थिति है वह उनकी जाति, उनकी संस्कृति का माखौल उड़ाती है। उनकी जाति की स्त्रियों को हष्ट-पुष्ट संभोग के लिए उपयुक्त वस्तु के रूप में चित्रित करती है। विगत तीन-चार दशकों से यह समाज अपनी अस्मिता और जिजीविषा के साथ ही सम्मानजनक जीवन जीने के लिए लगातार संघर्ष कर रहा है। अपनी भाषा, अपनी संस्कृति, अपनी जाति तथा अपने साहित्य के प्रति फैलाये गए पूर्वाग्रहों को दूर करने के लिए अनेकों आदिवासी-गैर आदिवासी लेखक कृतसंकल्प हुए। रणेन्द्र, रामदयाल मुंडा, महादेव टोप्पो, रमणिका गुप्ता, निर्मला पुतुल, अनुज

लुगुन, ग्रेस कुजूर, वंदना टेटे तथा जसिन्ता केरकेट्टा आदि ऐसे रचनाकार हैं जिन्होंने हिंदी साहित्येतिहास की धारा को आदिवासी जनजीवन व विमुक्त साहित्य से जोड़ने और उसे समृद्ध करने का काम किया है।

आज आदिवासी साहित्यकार अपने पौराणिक वाचिक साहित्य को लिपिबद्ध कर अपनी संस्कृति तथा जीवन शैली के अंगो-उपांगों और उनके साथ हुए अनन्य शोषण, अत्याचार तथा अपराध आदि को सामने ला रहे हैं। आदिवासी कविता प्रकृति की गोद में बसे इस जनसमूह की गाथा है। आधुनिकता और विकास के नाम पर पिछले पाँच-छह दशकों से इस समूह को हमेशा उनके मूल स्थान से हटाया गया, इनके संसाधनों से विस्थापित किया गया। इनकी बस्तियों को उजाड़ा गया और इनके जंगलों को काटकर इन्हें बेघर किया गया। आदिवासी कविता इसी विस्थापन और संत्रास की पीड़ा का महाकाव्य है। आज झारखंड, छतीसगढ़, मध्य प्रदेश, पश्चिम बंगाल आदि क्षेत्रों से आदिवासी समुदाय अपने-अपने क्षेत्रों की समस्याओं को प्रमुखता से रख रहे हैं। समकालीन हिंदी कविता में आदिवासी कवियों की एक नयी पीढ़ी धीरे-धीरे बढ़ रही है। रामदयाल मुंडा, अनुज लुगुन, निर्मला पुतुल, रोज केरकेट्टा, सरोज केरकेट्टा, आलोका कुजूर, सरिता सिंह बड़ाइक, वंदना टेटे और जसिन्ता केरकेट्टा आदि कवि-कवयित्री समकालीन हिंदी कविता में आदिवासी स्वर को मुखरित कर रहे हैं।

समाज की कथित मुख्यधारा ने आदिवासी समूह के लोगों को धर्म, भाषा, संस्कृति तथा आचार-विचार से अत्यंत पिछड़ा सिद्ध किया। जब एक पूरा समाज ही अशिक्षा, अज्ञानता तथा पिछड़ेपन के कारण हाशिए पर हो तो उस समाज में स्त्री की अवस्थिति क्या होगी? यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। विकसित समाज के मॉडेल और कथित सभ्य समाज द्वारा आदिवासी स्त्रियों का शोषण, बलात्कार, हत्या से लेकर उसकी खरीद-फ़रोख्त आम बात है; उनके अपने समाज के पुरुषों द्वारा किया गया अमानुषिक व्यवहार, अंधविश्वासों के आधार पर आदिवासी स्त्रियों की दैहिक-मानसिक प्रताड़ना दोहरी आघातों को सहने के लिए वे अभिशप्त

रहती हैं। शिक्षा के प्रसार तथा संवैधानिक अवसरों से चेतस आदिवासी स्त्री अब इस शोषण नीति और पुरुष वर्चस्ववाद के खिलाफ खुलकर लिख रही हैं। विभिन्न आदिवासी भाषाओं से आ रहे स्त्री-स्वर को साफ देखा जा सकता है। संताली भाषा की निर्मला पुतुल, कुड़ुख भाषा की ग्रेस कुजूर, ज्योति लकड़ा, आलोका कुजूर, जसिन्ता केरकेट्टा, खड़िया भाषा की रोज केरकेट्टा, सरोज केरकेट्टा, हो भाषा की सरस्वती गागराई तथा नगपुरिया भाषा की सरिता सिंह बड़ाइक आदि युवा चेतना एवं स्वप्न की कवयित्रियाँ हैं। इन सभी कवयित्रियों में सभ्य समाज द्वारा फैलाए गए आदिवासी छवि की मिथ को धूमिल कर एक धवल चित्र बनाने की कोशिश निरंतर जारी है।

निर्मला पुतुल संताली भाषा के साथ ही हिंदी में भी कविताएं लिखती हैं। उनकी कविताओं का एक-एक शब्द पूरी आदिवासी रूह के कंपन को उद्वेलित करता है। आदिवासी स्त्री की भीषण मानसिक-शारीरिक प्रताड़ना, समस्त आदिवासी जीवन के अनुभव, बाजारवादी विकृतियों के चित्र, नक्सल आंदोलन के साथ ही पुलिस-प्रशासन व्यवस्था आदि की विघटनकारी त्रासद नीतियों को अपनी कविताओं में वे अभिव्यक्त करती हैं। स्त्री-शरीर के साथ उसकी मानसिक वृत्तियों को नेस्तनाबूद करने वाले ढेरों अनुभव निर्मला पुतुल के काव्य मानस में सन्नद्ध है। 'तुम क्या जानते हो', 'आदिवासी स्त्रियाँ', 'कुछ मत कहो सजोनी किस्कू', 'पिलचू बूढ़ी' आदि दर्जनों कविताएं हैं जिसमें स्त्री-दंश के नग्न यथार्थ को देखा जा सकता है। कवयित्री 'पिलचू बूढ़ी' को स्मरण कर अपने समाज के कामान्ध पुरुषों की प्रवृत्तियों पर आश्चर्य प्रकट करती है कि ये उनके वंशज हैं (जो कभी विशुद्ध प्रेम के पुजारी थे) ; और आज स्त्रियों को मन भरने और अपनी कामुक इच्छा की तृप्ति के लिए एक स्त्री को छोड़ दूसरा तथा दूसरा छोड़ तीसरी स्त्री को घर में ला बिठाता है। घर और बाहर, बाज़ार और प्रशासनिक, शैक्षणिक स्थानों पर चल रहे षड्यंत्र को निर्मला पुतुल ने गंभीरता से लिया है।

'संताल परगना', 'जब टेबुल पर गुलदस्ते की जगह बिस्लरी की बोतलें सजती हैं' आदि कविताएं बाजारवादी छलावा से उत्पन्न निराशा और अवमानना की दास्तान है। बाज़ार ने अभिजात्यवादी नीतियों और पूँजीवादी सत्ताओं से एकमेक हो भारत के आदिवासी बहुल क्षेत्रों को तबाह किया है। विकास की नीतियाँ इन घरों के विध्वंस से शुरू होते हुए मॉल कल्चर में इन्हें दास बनाकर खत्म होती है। निर्मला पुतुल एकसाथ कई मोर्चों पर सक्रिय दिखती हैं – बाजारवादी नीतियों के साथ सत्ताओं के दोमुंहेपन को निर्मला पुतुल बखूबी समझती हैं। अपने समुदाय को उस अंधी दौड़ में शामिल होते देख कवयित्री उन्हें बार-बार आगाह करती है। अपनी सांस्कृतिक जीवन शैली के स्थान पर बाजारवादी चकमक के गिरफ़्त में चलते चले जाना उनके षड्यंत्र का हिस्सा हो जाना है : "उठो कि अपने अंधेरे के खिलाफ उठो / उठो अपने पीछे चल रही साजिश के खिलाफ।"[20]

कवयित्री पंचायत, राजकीय तथा राष्ट्रीय स्तर पर व्यवस्था द्वारा आदिवासी समाज को छले जाने का क्रमिक रूप प्रस्तुत करती है। 'मुजरिम नहीं था वह' का मुजरिम व्यवस्था से त्रस्त, अत्याचार से पीड़ित आम आदमी है जो न चाहते हुए भी अपनी मुक्ति के लिए कुख्यात व्यवस्था का लिबास पहन रखा है। आम आदमी का अपराधी या मुजरिम होना या बनना उनकी खुद की उपज नहीं बल्कि व्यवस्था द्वारा सायास बनाया गया है। अपनी जमीन, अपनी संस्कृति तथा अपने सगे-संबंधियों के सम्मान हेतु, आम आदमी से अपराधी कहलाना वर्चस्ववादी राजनीति का ही प्रतिफलन है।

प्रकृति के प्रेमी, सहजीवी को तथाकथित सभ्य समाज ने जमकर लूटा और उन्हें बेघर किया है। शिक्षा तथा आधुनिक चेतना से इन्हें दूर रख कर 'बनवासी' करार दिया गया और वर्षों तक इनके जल-जंगल-जमीन, पशु-पक्षियों के साथ ही इनकी औरतों को भी अपनी कुंठा का शिकार बनाया है। आज भी यह विभीषिका जारी है। इनकी आवाज़ को सुनने वाला कोई नहीं है। पुलिस प्रशासन की बर्बरता और भी भयानक है। नक्सली हमला और अत्याचार को ये पल-

पल सहते हैं। दर्द और टीस मानो आदिवासी समुदाय और साहित्य के लिए पल-प्रतिपल चलती साँसों की तरह है।

आदिवासी साहित्य इस बात का प्रमाण है कि उनकी सामाजिकता, सामासिक संस्कृति तथा स्वतंत्रता, समानता और भाईचारा आदि जिन मूल्यों के लिए आधुनिक समाज संघर्ष कर रहा है उन्हें आदिवासी समुदाय वर्षों से जीते आया है। निर्मला पुतुल का लेखन इस बात को प्रमाणित करता है। निस्संदेह आधुनिक होते समाज, संस्कृति और धर्मभीरुता ने आदिवासी को जनजातीय, असभ्य, दानव, राक्षस आदि के साथ-साथ बदसूरती अथवा कुरूपता का पर्याय बना दिया लेकिन असल में आदिवासी संवेदना को अब उनके ही स्वर से जाना जा रहा है। निर्मला पुतुल की कविता इस मायने में प्रतिरोध की कविता को एक नया संसार, एक नया भाव बोध के साथ नयी शब्द-संपदा द्वारा हिंदी कविता को भेंट करती है। 'विकास के नाम पर विनाश' की सरकारी नीतियों के खिलाफ कवयित्री मुखर होती दिखती है। 'आखिर कब तक' कविता पूरी व्यवस्था के समक्ष एक श्वेत-पत्र है जो राजनीति के खूनी खेल और अपराधी चरित्र को उजागर करता है: "आखिर कब तक / होता रहेगा यह सब / चलती रहेगी कब तक / झूठी नौटंकी / और / स्वार्थपूर्ण राजनीति / आखिर कब तक? / कब तक हमारे हिस्से का समुद्र / लील कर बुझाते रहेंगे / अपनी-अपनी प्यास / और चढ़ाते / निर्दोष मासूमों की बलि / उनके हिस्से छीनकर / आखिर कब तक?"[21] आगे वे इस व्यवस्था का और भी कुत्सित चेहरा सामने लाती हैं। विकास के सपने दिखाकर, आदिवासियों के खून-पसीने से लाभ उठाकर और उन्हें बेबस, सहाराविहीन छोड़कर, उनकी बहू-बेटियों के आबरू को लूटकर यह व्यवस्था उसे अपना हितकारी, सहकारी तथा परोपकारी समझना चाहता है: "औरतें कब तक शिकार होती रहेंगी / दुशासन कब तक हरता रहेगा / द्रोपदियों के चीर / आखिर कब तक? / कब तक अख़बारों के हेडलाइन / भूख से हुई मौत और / बलात्कार की ख़बरों से / रंगती, सजती रहेगी / आखिर कब तक?"[22]

राजनीति का यह विद्रुप चेहरा पूरे राष्ट्र में एक-सा रहा है। सत्ताएं विकास के नाम पर आम जनता को हमेशा से छलती आई हैं और आज भी छल रही हैं। लेकिन आदिवासी समुदाय इस मायने में दोहरे-तीहरे शोषण का शिकार होता आया है। सत्ता व्यवस्था, तथाकथित सभ्य समाज तथा स्थानीय व्यवस्था आदि सभी ने आदिवासियों के साथ दुर्व्यवहार किया है। आदिवासी पुरुषों को बहला-फुसलाकर, नशे में धुत्त कर उसके साथ अमानवीय व्यवहार की बात हो या उनके अधिकारों से उन्हें बेदखल करना हो या उनसे जानवरों-सा काम लेने की बात हो, आदि सभी पर कवयित्री की पैनी नजर है। वह अपने समाज के *चुड़का सोरेन*, *ढेपचा बाबू* से अपने समाज के उत्थान की आस लगाए बैठी है। 'चुड़का सोरेन' और 'ढेपचा बाबू' कविता आदिवासी समाज के नग्न यथार्थ का उत्कर्ष है। अमानवीयता का जहर जब घर में मौजूद हो तो वह असहनीय और अनियंत्रित होता जाता है। निर्मला पुतुल की कविताएं पुरुषवाद के इस भयावह रूप को गढ़ती है। 'ढेपचा बाबू' की अनुपस्थिति में उनकी पत्नी के साथ होने वाला व्यवहार पुरुष के सामाजिक-राजनैतिक तथा कानूनी व्यवस्था की धज्जियां उड़ाता मनुष्यत्व को शर्मशार करता है। ऐसे दर्जनों काव्यानुभव निर्मला पुतुल के यहाँ मौजूद है जहां बार-बार प्रताड़ित-बलात्कृत स्त्री आती हैं, अपनी विरासत को बचाने का संकल्प आता है, व्यवस्था के विषधरों को सबक सिखाने का जज्बा आता है तथा आती है आदिवासी स्त्री-अस्मिता की पुनर्संगठन की आर्तनाद : "अपनी बस्तियों को / नंगी होने से / शहर की आबो-हवा से बचाएँ उसे / बचाएँ डूबने से / पूरी की पूरी बस्ती को / हड़िया में... भीतर की आग / धनुष की डोरी / तीर का नुकीलापन / कुल्हाड़ी की धार... आओ, मिलकर बचाएँ कि इस दौर में भी बचाने को / बहुत कुछ बचा है, अब भी हमारे पास!"[23]

निर्मला पुतुल की कविताएं आदिवासी संस्कृति, भाषा, लोककथा, शौर्यगाथा, पर्व-त्योहार, आचार-विचार, आदिवासी समुदाय मिथक के नायक आदि के समानांतर ऐतिहासिक नायकों आदि को पूरे आवेग के साथ कविता में इसलिए नहीं लाती हैं कि यह उनकी अपनी

दुनिया है बल्कि इसलिए लाती हैं कि ये वे हथियार और चेतना है जिससे तथाकथित सभ्य समाज से लड़ा जा सकता है। विस्थापित हुए लोगों का स्मरण अपनी एकजुटता और वर्चस्ववादी नीतियों से स्वयं को बचाने की पुकार है। विस्थापित हुए आदिवासी समाज सस्ते श्रम और दिहाड़ी मजदूर में तब्दील किए जाते हैं, आदिवासी औरतें बड़ी संख्या में शहरों में नौकर, आया आदि के साथ देह-व्यापार में धकेल दी जाती हैं। ऐसी स्थिति में 'बेघर' हुए इनलोगों का क्लांत स्वर निर्मला की कविताओं में देखा जा सकता है।

'बिटिया मुर्मु के लिए', 'चुड़का सोरेन' कविता में आई ऊँची सैंडिल वाली स्टेला कुजूर जो इस क्षेत्र की बहन, बेटियों को मीठे सपने दिखा कर उनको कच्चे माल की तरह दिल्ली, कलकत्ता, मुंबई तथा नेपाल में सप्लाई करती हैं। ये मसीहा, शुभचिंतक इनके घर और परिवेश को बर्बाद कर स्वयं को आबाद करते हैं और किसी को कानोकान खबर तक नहीं मिलती। अपने समुदाय के पुरुषों से छिड़ती-पीटती आदिवासी स्त्री-जीवन की विद्रूपता की त्रासदी भी कम भयावह नहीं है। 'ढेपचा के बाबू' कविता का कथ्य इसका प्रमाण है कि गाँव-देहात में बिना अपने मरद के अकेली रह रही स्त्री, लोगों की आँखों की किरकिरी बनी रहती है। रमणिका गुप्ता निर्मला पुतुल के व्यक्तित्व एवं उनकी कविता का परिचय देते हुए लिखती हैं : "निर्मला पुतुल संताली कवियों में सबसे अधिक चर्चित और देश-विदेश में जाना जाने वाला नाम है। संताली भाषा सबसे अधिक समृद्ध है। उसका लम्बा इतिहास भी है। उसने अपनी लिपि भी निर्मित कर ली है। निर्मला हमें जहां बाजारवाद के खतरों से अवगत कराती है, वहीं स्त्री-जीवन की सूक्ष्मताओं-विद्रूपताओं, त्रासदियों को भी उकेरती हैं। वे आदिवासी जीवन की तह तक जाकर उसकी जीवन शैली, सामूहिकता, संस्कृति, भाषा व जड़ों से उखड़ने के दर्द व मूल्यों के विघटन और आदिवासियों के प्रति बरते जा रहे भेदभाव और उपेक्षा से चिंतित हैं।"[24]

आदिवासी जगत के ऐतिहासिक नायक बिरसा मुंडा, तिलका मांझी, सीदो-कान्हु आदि का स्मरण आदिवासी साहित्य और वैचारिकी को एक ठोस आधार प्रदान करता है, संघर्ष करने

की, लड़ाई को अंतिम साँस तक, नगाड़े के बजते अंतिम थाप तक लड़ने की प्रेरणा देता है। निर्मला पुतुल इन नायकों के क्रांतिधर्मी चेतना को आगे बढ़ाना चाहती हैं इसके लिए आदिवासी समाज को सचेत होना होगा, अपने आसपास के षड्यंत्रकारी चरित्रों को पहचानना होगा और अपने हिस्से की लड़ाई खुद ही लड़नी होगी। अपने समाज की रूढ़ियों, अंधविश्वासों, कुप्रथाओं को नष्ट कर शिक्षा-रोजगार और वैज्ञानिक सोच को प्रश्रय देना होगा। अपनी सामासिक संस्कृति, प्रकृति परायणता, अपने समाज के ऊँचे आदर्शों की महत्ता का प्रसार करना होगा तथा देश की राजनैतिक-सामाजिक गतिविधियों में सक्रिय भूमिका निभानी होगी। निर्मला पुतुल स्वयं सामाजिक कार्यकर्ता की भांति इन कार्यों को बखूबी कर रही हैं। उनकी कविताएं उनके सामाजिक गतिविधियों से अनुभूत खुरदुरे यथार्थ की अभिव्यक्ति है। कलाविहीन कला की अन्यत्तम कलाकृति है निर्मला पुतुल की कविताएं। यह उनके 'एकान्त का प्रवेश द्वार' है जिसका उद्देश्य ही जस को तस के रूप में उतार देना है : "बिना किसी लाग-लपेट के / तुम्हें अच्छा लगे, ना लगे, तुम जानो / चिकनी चिपुड़ी भाषा की उम्मीद न करो मुझसे / जीवन के ऊबड़-खाबड़ रास्ते पर चलते / मेरी भाषा भी रुखड़ी हो गई है / मैं नहीं जानती कविता की परिभाषा / छंद, लय, तुक का कोई ज्ञान नहीं मुझे।"[25] कवयित्री की यह स्वीकारोक्ति कहन का अंदाज़ आदिवासी साहित्य ही नहीं, स्त्री-कविता को नया आयाम देती है।

कविता में अपने परिवेश, अंचल तथा आदिवासी चरित्र की खूबियों-कमियों के साथ प्रेम का तात्विक स्वरूप भी निर्मला पुतुल की कविताओं को एक अलग स्वर देता है। 'पहाड़ी स्त्री', 'पहाड़ी पुरुष' तथा 'पहाड़ी बच्चा', 'पिलचू बूढ़ी से', 'अभी खूँटी में टाँगकर रख दो माँदल', 'जमाने में और भी गम है मोहब्बत के सिवा' आदि कविताएं आदिवासी परिवेश और प्रेम के मौलिक रूप को उकेरती है। सर पर लकड़ियों का गट्ठर-चादर में पीठ पर लटके बच्चे और झाड़ू बनाती, पहाड़ तोड़ती स्त्री की मेहनतकश तस्वीर कोमलांगी नायिका का भाव नहीं जगाती है बल्कि भारतीय महाद्वीप के स्त्री की जीवटता और जिजीविषा के चरित्र को दर्शाता

है। उसी तरह 'पहाड़ी पुरुष' पहाड़ पर अपनी कुल्हाड़ी की धार पिजाता पहाड़ी जीवन के सुख-दुख को झेलता अपने लिए स्पेस की तलाश में लगा है और 'पहाड़ी बच्चा' पहाड़ पर चढ़ते-उतरते-खेलते हुए, पूछता है पहाड़ जैसे बड़े प्रश्न! "पहाड़ी बच्चा देखता है / पहाड़ के ऊपर से गुजरता जहाज / और पूछता है पिता से / उस नए पक्षी के बारे में।"[26] अपने परिवेश के साथ प्रेम की प्रगाढ़ता का रूप भी अपरूप है ; बाँसुरी, माँदल तथा नगाड़े प्रेम के सहयोगी ही नहीं सहयात्री हैं, प्रेम के प्रेरक तत्व हैं। प्रेम का एकनिष्ठ अथवा आत्मनिष्ठ रूप के स्थान पर प्रेम का वस्तुनिष्ठ रूप, उत्सवधर्मी रूप उभर कर सामने आता है। 'जमाने में और भी गम है मोहब्बत के सिवा' कविता में घर के सारे समान प्रेम की भावनाओं को उद्वेलित करते हैं, घर में काम करती स्त्री अपने पति की शर्ट, चप्पल, गमछी, लूंगी आदि को प्रेम के प्रेरक वस्तुओं की तरह देखती है ; उनसे अपना रागात्मक संबंध स्थापित करती है। शायद यह सुनने-देखने में एकबारगी अच्छा न लगे, पर है यह भी एक प्रेम का दृश्य! चूँकि निर्मला पुतुल की कविताओं का तेवर ही प्रतिरोध और संघर्ष है इसलिए उनमें रूमानियत का ओछा भाव आ पाना संभव ही नहीं है। आदिवासी परिवेश और प्रेम का यह सहज भाव उसे कुंठा, हताशा, निराशा और अहंभाव से दूर एक निश्छल लोक में ले जाता है जो नितांत उनका अपना है।

निर्मला पुतुल बतौर सामाजिक कार्यकर्ता अपने क्षेत्र में सामाजिक गतिविधियों में हिस्सा लेती, अपनी भाषा और साहित्य के प्रति दायित्वों का निर्वाह करते हुए भी अपने पारिवारिक कर्त्तव्यों को नहीं भूलतीं। पारिवारिक भूमिका निर्वाह उनके सामाजिक गतिविधियों का ही हिस्सा है। परिवार को समाज का महत्त्वपूर्ण इकाई मानती हुई कवयित्री पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री/बेटी का अपने परिवार से विलगाव के रीति-रिवाज को कोसती है। घर-परिवार के प्रति लगाव और विलगाव की पीड़ा को 'माँ के लिए, ससुराल जाने से पहले' और 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा' आदि कविताओं में देखा जा सकता है। ये दोनों ही कविता स्त्री के परिवार विषयक करुण राग ही नहीं है बल्कि उससे भी अधिक स्त्री की सामाजिकता सहजीविता का

दस्तावेज़ है। दोनों ही कविता में करुण दृश्य बिम्ब होते हुए भी उमनें प्रतिरोध की आकांक्षा विन्यस्त है, यह इन कविताओं की ही नहीं अपितु निर्मला पुतुल के काव्य-सर्जना की ताकत है कि करुण प्रवाह में भी अपने प्रतिरोध को रख उसे सँवार लेती हैं। कविता में प्रयुक्त बिम्ब और प्रतीक इतने साधारण हैं जो सच्चे अर्थों में असाधारण की कोटि में आते हैं। ससुराल जाने से पहले, माँ को बेटी की मीठी उलाहना कि उसकी अनुपस्थिति में भी उसकी उपस्थिति आँगन में टूटे पड़े झाड़ू में, पानी के खाली घड़े में, खूँटे में बंधी बकरियों में गाछ पर बैठे पंडुक चिड़िया की कूक आदि में तथा घर के नस-नस में रहेगी। स्त्री के हृदय की गहराई न माप पाने वाले मूर्ख-ढोंगी शास्त्री-ज्ञानी के समक्ष यह एक सामान्य स्त्री की हृदय चित्र ; और बसे हैं उनमें मानवपरायणता का प्रतिबद्ध भाव! यह आकांक्षा महज कवयित्री को अपनी ज़िम्मेदारी-बोध को ही नहीं दर्शाती है बल्कि यह स्पष्ट करती है कि उनके चिंतन की धुरी में परिवार-समाज के साथ समस्त प्रकृति जन-जीवन भी सहज भाव से परिजन की भाँति स्थान रखता है।

हिंदी कविता के प्रतिरोधी स्वर को निर्मला पुतुल की कविता, कथ्य-भाषा और शिल्प ने एक नया धार दिया है। आदिवासी जगत की कथा, संस्कृति और प्रकृति के साथ होने का उनका एहसास और इसके विनाश की क्रमिक गाथा, उनका उपेक्षाभाव, दोहन आदि सभी हिंदी कविता की दुनिया में नया है। यह समुदाय इस देश की मूल निवासी होने के बावजूद सबसे अधिक अशिक्षित, अविकसित और अपरिचित सा प्रतीत होता रहा। मिथक, इतिहास और आज की व्यवस्था ने इस समुदाय को अपने पूर्वाग्रह के आधार पर कभी हाशिए पर रखा तो कभी इन्हें अपमानजनक शब्द बनवासी, जनजाति आदि कहकर समाज से अलग किया। विगत तीन-चार दशकों से यह समुदाय अपनी पहचान, अपनी अस्मिता तथा अपने अधिकारों के लिए संघर्षरत है। साहित्य-संस्कृति के साथ अपने इतिहास और मनुष्य होने का प्रमाण देती इनकी रचनाएँ तथाकथित सभ्य समाज को आईना दिखाती हैं। सत्ता और व्यवस्था के विद्रुप मंसूबों को बेनकाब करती अपने समाज की दुर्नीतियों की आलोचना करती इनकी लेखनी अब प्रतिरोध

की मजबूत आवाज बन चुकी है। निर्मला पुतुल की कविताओं का मूल लक्ष्य ही सत्ता-व्यवस्था और बेढंग जीवन शैली, सोच-विचार के समक्ष प्रतिरोध दर्ज़ करना है। 'क्या तुम जानते हो', 'बहामुनी', 'बिटिया मुर्मु के लिए', 'ख़ून को पानी कैसे लिख दूँ', 'ये वे लोग हैं', 'मैं वो नहीं जो तुम समझते हो', 'एकबार फिर', 'घोड़ा-उतार तमाशा के विरुद्ध', 'मेरा सब कुछ अप्रिय है उनकी नज़र में', 'उतनी ही जनमेगी निर्मला पुतुल' और 'मैं चाहती हूँ' आदि कविताओं में आदिवासी समाज के प्रतिरोध की वो छवियाँ हैं जो सैकड़ों वर्षों से शोषण की चक्की में पिस रही थीं। अब यह समुदाय अपने हक़ और हकूक के लिए प्रतिबद्ध है और शोषक, अत्याचारी के खिलाफ लोहा लेने का उद्घोष भी कर रहा है। कवयित्री अपनी कविता में मधुर या विरह गीत गाने की आकांक्षी नहीं है, वे चाहती है कि उनके शब्दों से पैदा हो क्रांति नायक बिरसा, सिदो-कान्हू और तिलका माँझी : "मैं चाहती हूँ / मेरे शब्दों की जमीन से / उगें कई-कई बिरसा मुंडा / अपने आसपास तनकर खड़े / ताड़-खजूर के पेड़ों को / सिदो-कान्हू में बदलते / देखना चाहती हूँ मैं / देखना चाहती हूँ / मौन समाधि लिए बैठे / पहाड़ का सीना चीरकर / तिलका माँझी को निकलते।"[27] क्रांतिधर्मिता का यह तेवर कवयित्री हमेशा बरकरार रखती है। अपने महानायकों का स्मरण, उनकी क्रांति-दृष्टि वर्तमान में मौजूद हिकारत से लड़ने में उन्हें हिम्मत देती है।

दुष्चक्र और बेइंसाफ़ी की इंतहा कर चुकी इस व्यवस्था के मुखबिर, सूदखोरों, चमचों और ढोंगी नेता, समाज सेवक, पुलिस-प्रशासन आदि सभी के खिलाफ कवयित्री क्रांति का बिगुल फूँकती नज़र आती है। अब स्पष्ट है कि - समय रहते उनके संसाधनों, उनके लोगों और उनके जल-जंगल-जमीन पर कब्जा करना, उनपर मनमानी, अत्याचार करना, उन्हें नक्सली हत्यारा बताकर मौत के घाट उतारना बंद नहीं हुआ तो इस व्यवस्था में आग लगना तय है। अब और अधिक उन्हें दबाए रखना आसान नहीं होगा। कवयित्री सामाजिक-राजनैतिक षड्यंत्रकारी को, उनकी दोहरी नीति को अपने अनुभवों से जान चुकी है इसलिए वे स्वयं मैदान में उतर चुकी है, उन्हें बेनकाब करने! क्रांति का अगुआ बन 'उलगुनान की औरतों' की भाँति अपना प्रतिदान

अपने समाज, अपने आदिवासी वर्ग की विरासत के लिए न्योछावर कर देना चाहती है। इस प्रतिदान के लिए हिंसात्मक लड़ाई भी लड़नी पड़े तो वह तैयार है, वर्ग-संघर्ष और वर्ग-अस्मिता की यह लड़ाई इंकिलाब की आवाज़ को बुलंद करने वाली है। कवयित्री को विश्वास है कि अब हमारी हस्ती को यह व्यवस्था मिटा नहीं सकती, दफन नहीं कर सकती है और यदि एक 'निर्मला पुतुल' को दफ़न कर भी दिए तो उनके लहू की एक-एक बूँद से निकलेंगी कई निर्मला पुतुल! अपनी कविता 'उतनी ही जनमेगी निर्मला पुतुल!' में कवयित्री क्रांति के लिए सीधे ललकारती हैं : "...इसलिए चुप नहीं रहूँगी अब / उगलूँगी तुम्हारे विरुद्ध आग / तुम मना करोगे जितना / उतना ही ज़ोर से चिखूँगी मैं / ... अबकी फूटेगा नहीं मेरा सिर / चकनाचूर हो जाएंगे बल्कि / तुम्हारे हाथ के पत्थर / और अगर किसी तरह हारी / इस बार भी / तो कर लो नोट दिमाग कि डायरी में / आज कि तारीख के साथ / कि गिरेंगी जितनी बूँदें लहू की धरती पर / उतनी ही जनमेगीं निर्मला पुतुल / हवा में मुट्ठी-बंधे हाथ लहराते हुए!"[28] एक सामान्य तथाकथित कमजोर हाशियकृत समुदाय की स्त्री का यह इंकिलाबी तेवर है, सम्पन्न, ताकतवर, सैन्यबल से मजबूत व्यवस्था के विरुद्ध कविता और कवि की ताकत।

आदिवासी जन-जीवन और उनकी चुनौतियों को सफलता से कविता में अभिव्यक्त करने में ग्रेस कुजुर का नाम भी आता है। इनकी कविताओं में इनका क्षेत्र झारखंड मूर्तिमान हो उठता है, "ग्रेस कुजूर की कविताएं हिंदी में ही छपती रही हैं, लेकिन हिंदी साहित्य उनसे अपरिचित है। यह अपरिचय ग्रेस की ओर से नहीं बल्कि उस समाज व साहित्य की ओर से है जिसे अपने 'राष्ट्रीय' होने का दंभ है। ग्रेस की कविताएं आदिवासी समाज के जीवन दर्शन और उस पर हो रहे हमले का कोरस है। उनके पास कविता कहने का अपना एक खास आदिवासी अंदाज है जो गहरे लयात्मक कौशल के साथ पाठकों के दिलों दिमाग को एक मद्धिम संगीत-का सा सुख और चैन देता है। वह आदिवासियत को बगैर किसी शोर और प्रोपेगैंडा के बहुत ही विरल अंदाज में रखती हैं।"[29]

आदिवासी स्त्री की पीड़ा और वेदना को उन्होंने बखूबी देखा है। ग्रेस कुजूर मूलतः कुड़ुख भाषी हैं। एक बात जो कवयित्री के चिंतन को विशिष्ट अर्थ देती है वह है उनका निजेतर भाव भूमियों को भी कविता में बाँधना। कवयित्री राजस्थान में भयंकर सूखे की स्थिति में वहाँ कि महिलाओं की स्थिति ('पानी ढोती औरत') को भी देखती है, अपने क्षेत्र अपनी झारखंड की प्राकृतिक धरती पर संघर्ष करने वाले श्रमिकों को भी अपनी कविता के दायरे में लेती है तथा आदिवासियों के संसाधनों पर कब्जा जमाने वाले भू-माफियाओं, दलालों की भी खबर लेती है। क्रांति का तेवर यहाँ और भी सघन है। विचार और धार दोनों ही स्तर पर। 'कलम को तीर होने दो' और 'एक और जनी शिकार' दोनों ही कविता आदिवासी अस्तित्व और आकांक्षा की कविता है। कवयित्री को अपने कलम पर अथाह विश्वास है। वे अपनी कलम की नोक को तीर के सदृश्य मानती है और अपने अस्तित्व रक्षा हेतु इसी तीर रूपी कलम को हथियार बनाना चाहती है : "क्या कर लेंगी उनका / बन्दूक और गोलियाँ / लांघते ही देहरी / हजारों कहानियाँ / नस-नस हो गई कमान, सब लहू तीर / देखना बाकी है कलम को तीर होने दो!"[30]

कलम और लेखनी के प्रति पूरी आदिवासी कविता में यह एक नया भावबोध है। इसी तरह 'एक और जनी शिकार' अपने इतिहास से प्रेरणा लेकर सीधे जंग के मैदान में उतरने के लिए लालायित है। यह पूरी कविता ओज गुण से लबालब है। अपनी नज़रों के सामने अपनी विरासत को नष्ट होते देख कवयित्री का हृदय ललकार उठता है। उनकी प्रेरणा बनती है 'सिगनी दाई' जिनके नेतृत्व में आदिवासी महिलाओं ने रहतासगढ़ के रक्षार्थ मर्दों के कपड़े पहन लड़ाई लड़ी थी। यह तेवर, यह ओज जीवनोत्सव में विवेक भाव भी सन्नद्ध है। 'पानी ढोती औरत', 'आग', 'रेशमी सपने', 'धार के विपरीत', 'पीपल का पेड़', 'बौना संसार', 'नन्ही हरी दूब', 'बीचौलियों के बीच', 'हे समय के पहरेदारों!', 'मेरा आदम मुझे लौटा दो' तथा 'प्रतीक्षा में' आदि कविताएं जीवन-बोध और विवेक-बोध की कविताएं हैं। समता और न्याय के लिए निरंतर संघर्षरत कवयित्री आदिवासी समाज व साहित्य को प्रभावी मानती है। समाज में जातीय

वर्गीकरण को तोड़ने के लिए आदिवासी साहित्य का जीवंत बना रहना आवश्यक है। अपने एक लेख में (*'आदिवासी साहित्य खुरदरेपन से शुरू होता है'*) ग्रेस कुजूर आदिवासी साहित्य की महत्ता को स्पष्ट करते हुए लिखती हैं : "जब तक समाज में जातीय वर्गीकरण या समाज का वर्गीकरण होता रहेगा, तब तक दलित-आदिवासी साहित्य भी रहेगा। इसकी उम्र भी लंबी होती जाएगी। जब तक समाज में समरूपता नहीं आएगी, तब तक आदिवासी, जो वंचित समाज है, अपने हक के लिए लड़ता रहेगा। लोग प्रायः आदिवासियों को या तो चोर-उचक्का मानते हैं अथवा जंगलों, पहाड़ों में रहने वाले जीव-जन्तु।"[31]

ग्रेस कुजूर की कविता में आई तपती धूप में पानी ढोती औरत, ओपन माइंस में उराइन चलाती एतवारिया, 'रेशमी सपने' देखती सुगनी, मंगरी और बुधनी, 'धार के विपरीत' काम करती गाँव की काकी, अपने बच्चों को पीठ पर बांधे शहर में हँड़िया बेचती स्त्री आदि सभी स्त्री पात्र पारम्परिक स्त्री-छवि से बिल्कुल भिन्न हैं। मेहनतकश मजदूर की तरह मजदूरी करना और अपना घर-संसार चलाना ही इनकी पहली प्राथमिकता है। समाज द्वारा तय किए स्त्री-संबंधी नियामकों को वह सहजता से तोड़ती चलती है। कई बार कवयित्री इस विपन्नता और श्रमधर्मिता को अपने सांस्कृतिक-बोध से उत्सव में बदल देती है। पेड़ पर चढ़कर साग तोड़ना, फगुआ का गीत गाना, माँदर और बांसुरी की आवाज़ पर थिरकना आदि उसी उत्सव-क्रीड़ा का हिस्सा है। यह अतीतजीवी भाव से अधिक अपने वर्तमान की जमीन को ठोस बनाने की जद्दोजहद है। 'एक और जनी-शिकार' कविता निसंदेह आदिवासी स्त्री-कविता के इतिहास और वर्तमान की विवेकसम्मत दस्तावेज़ है।

प्रकृति से अंतरंग इस मनुष्य जाति का लीलाभाव और वैभव जन्म से प्रकृति के साथ ही आरंभ होता है। प्रकृति ही इनकी सहयात्री है। लेकिन जब उसी प्रकृति के प्रांगण से इन्हें निष्काषित किया जाता है तो प्रतिरोध की आग उठनी स्वाभाविक है। कवयित्री देश-प्रदेश के शासकों, समय के पहरेदारों को प्रकृति के विनाश से होने वाले विध्वंस से आगाह करती है

लेकिन तथाकथित विकास के रहनुमाओं को प्रकृति-आग्रह और प्रकृति-प्रेम की भाषा समझ नहीं आती है : "एक बूँद पानी के लिए / तड़प-तड़प जायेंगी / हमारी पीढ़ियाँ / इसलिए / मैं सच कहती हूँ / हे समय के पहरेदारों! / तुमने अवश्य सुना होगा / एक वृक्ष की जगह / लगाओ दूसरा वृक्ष / क्या कभी सुना है / एक पर्वत के बदले / उगाओ दूसरा पर्वत? ... इसलिए फिर कहती हूँ / न छेड़ो प्रकृति को / अन्यथा यही प्रकृति / एक दिन माँगेगी हमसे / तुमसे अपनी तरुणाई का / एक-एक क्षण और करेगी / भयंकर बगावत और तब / न तुम होगे / न हम होंगे!"[32] जल-जंगल-जमीन-पहाड़ और पर्वत आदि के प्रति यह अगाध निष्ठा प्रकृति के सहजीविता के सिद्धान्त को ही दर्शाती है। धर्म, जाति, नस्ली विभाजनकारी विद्रूपताओं से दूर आदिवासियत किन्हीं अर्थों में मूलतः प्रकृतिधर्मी-प्रकृतिपूजक हैं। आदिवासी स्त्री-कविता प्रकृति के उद्गीथों के साथ आदिवासी समाज को भी जन-जागरण का संदेश देती है। अपनी देहरी के पार घट रही अमानुषिक-आतंकी घटनाओं पर इनकी बराबर नज़र बनी रहती है। आतंकवाद के खतरों से जूझ रही राष्ट्र की चिंता भी कवयित्री की काव्य-चेतना का हिस्सा है। उनकी 'दो बूँद आँसू' कविता को 'आतंकवाद के विरुद्ध गीत' के रूप में पढ़ा-समझा जाता है। 'कलम को तीर' बनाने वाली यह कवयित्री हिंदी जगत के तुमुल कोलाहल में हृदय की बात कहने वाली दुर्धर्ष कवयित्री हैं जिनसे हिंदी जगत पूरी तरह अभी भले ही परिचित न हो पर उनकी कविताओं की ताप और उष्मा शीघ्र ही हिंदी कविता के मानस बिम्ब को चमत्कृत करेगी।

कुड़ुख भाषी कवयित्री ज्योति लकड़ा भी आदिवासी जगत के आंतरिक विक्षोभ, कर्ककशता तथा अज्ञानता की मुख्यधारायी परिभाषा को अभिव्यक्त कर अपने समाज को सजग करती दिखती हैं। अपने समाज को एक नयी दिशा में अग्रसर करना चाहती हैं। इस क्रम में कवयित्री अपने समाज में फैले कूपमंडूकता पर भी कुठाराघात करती है। आदिवासी समाज के अंधविश्वास और भयानक दंड-विधान के बीच स्त्री की टीस को कवयित्री शब्दबद्ध करना चाहती है। स्त्री-चरित्र की एक अलग काया ज्योति लकड़ा की कविताओं में उद्वेलन और कंपन

पैदा करती है। अपमान, अन्याय और यौन-शोषण की अंतहीन कथा कहती उनकी कविता 'टोहनी' सामाजिक विषमता के घिनौने रूप को प्रस्तुत करती है। 'तुम्हारा डर', 'बाँस बखार', 'लोहा' आदि कविताएं आदिवासी जगत की चिनगारी और ज्वाला की तरह धधकती चेतना का प्रतीक है। 'तुम्हारा डर' में विशुद्ध रूप से स्त्रीत्व की प्राण वायु बहती है। स्त्री-कविता की दुनिया में यह कविता नींव की ईंट के सदृश्य मानी जा सकती है। इस कविता में पितृसत्ता के तमाम तंत्र और षड्यंत्र की बखिया उधेड़ी गई है। स्त्री को पारिवारिक, सामाजिक और राजनैतिक अधिकारों से बेदखल करने की राजनीति और आस्थावादी दोचित्तापन को कवयित्री ने 'डर' के अर्थ में व्याख्यायित किया है: "तुम डरते हो मुझसे / इसलिए मेरा इतिहास मिटा / अपना इतिहास गढ़ा तुमने... / तुम डरते हो मुझसे / इसलिए धर्मग्रंथों में / बराबरी और इंसान का दर्जा नहीं दिया.../ तुम डरते हो मेरी गरिमा से / इसलिए योनि-पूजा की जगह / तुमने लिंग पूजा स्थापित की... / तुम डरते हो मेरे स्त्रीत्व से / इसलिए अब तक झूठ बोलते रहे हो / कि तुम सृष्टिकर्ता हो....।"[33] यह पूरी कविता समाज का स्त्री के प्रति धर्मभीरुता और संकीर्णता होने की तफ़सील करती है। पुरुष मानसिकता, धर्मतंत्र तथा वर्चस्ववादी नीतियों की मुखालिफ़त करती यह कविता स्त्री-समाज को जागृत करती है।

ज्योति लकड़ा अपनी कविता में स्त्री-पुरुष संबंधों की घिनौनी वर्चस्ववादी नियामकों की जड़ों को झकझोरती हैं। वर्णवादी पौरुषिक कूटनीतियाँ कैसे इंसानी वजूद को ओछा बना डालती है - यह कहने की आवश्यकता नहीं! समाज में फैली जातीय वैमनस्यता, भाषायी दुरूहता और क्षेत्रीय खिलंदड़ापन आदि तथाकथित इन संकीर्ण धारणाओं ने हाशिए के समुदाय को भयानक यातना का शिकार बनाया है। कवयित्री का स्त्री-मन इन विषैले कूपमंडूकों पर चित्कार कर उठता है। वे इन अमानवीय नीतियों पर सवाल खड़ा करती हैं : "न्योता नहीं जाता उसे / शुभ कार्यों में / नहीं दिया जाता गोद में उसकी / नवजात शीशु... खिलाया जाता है उसे / कच्चा कलेजा / मुंडवा कर केश / घुमाई जाती है वह पूरे गाँव में.... लूट ली जाती है उसकी

अस्मत / कर दी जाती है उसकी हत्या / पर क्यों नहीं पूछता कोई सवाल / क्यों इंसाफ के एक पलड़े में / हमेशा ही पत्थर हुआ करता है?"[34]

जातीय उत्पीड़न का यह मनोविज्ञान एक विशेष समुदाय की जिजीविषा और मानवीय सारवत्ता को पीढ़ियों से नष्ट करते आया है। अन्याय और अपमान की घूँट पीता यह वर्ग जब अपनी अस्मिता के सम्मान के लिए सवाल करता है तब भी पूरा तंत्र इसके खिलाफ खड़ा हो जाता है। भ्रूण-हत्या, डायन-हत्या, दहेज-दोहन, यौन-हत्या आदि अपराधों की शिकार स्त्रियाँ आज भी न्याय की चौखट पर खड़ी हैं। ज्योति लकड़ा अपनी कविता की सलय-सलय ध्वनि से समाज में उत्पीड़ित आदिवासी स्त्रियों के साथ सम्पूर्ण स्त्री-अस्मिता पर गहराई से चिंतन-मनन करती हैं। पुरुषवादी मानसिकता और सवर्णवादी चंगुल से अपने समाज को उबारने के लिए कवयित्री समाज में फैले स्त्री संबंधी अंधविश्वासों-अज्ञानताओं और जड़ताओं आदि का विरोध करती है। उन्हें साहित्य-संस्कृति तथा अपने जातीय इतिहास के स्मरण से नयी ऊर्जा मिलती है। आदिवासी साहित्य के प्रणेता माने जाने वाले रामदयाल मुंडा जी के निधन पर लिखी 'साखू का पेड़ ढह गया' कविता कवयित्री की जातीय अस्मिता के बोध को रेखांकित करती है।

आलोका कुजूर आदिवासी कवयित्री होने के साथ ही सामाजिक कार्यकर्ता, नाट्यकर्मी, संस्कृतिकर्मी के रूप में भी जानी जाती हैं। विगत दो दशकों से आलोका जी नाट्य-प्रशिक्षण के नेतृत्व की भूमिका निभा रही हैं। इनकी कविताओं का स्वर आदिवासी युवा मन की कसमसाहट और बिखर गए सपने हैं। अपने प्रदेश झारखंड की जमीन से थोड़े समय के लिए शिक्षा-रोजगार के लिए विस्थापित हुए हृदय अपने प्रदेश, अपने अंचल को याद कर सिहर उठते हैं। 'खजूर की चटाई', 'पहाड़ पर पहाड़', 'ताजमहल की दुनिया', 'दिल्ली में है झारखंड' तथा 'पूरा-पूरा चाँद' आदि कविताएं एक अलग आस्वाद की है। यहाँ अपने जल-जंगल-जमीन से अधिक अपने लोगों की चिंता है, निरंतर अपने गाँव को, अपनी संस्कृति, बोली-भाषा को खोज रहे

और विस्मृत हो रही इतिहास चेतना को कवयित्री ने पकड़ने की कोशिश की है। समाजवाद के सपने को बाजारवाद में, दुख के पहाड़ में बदलते देखना कवयित्री के लिए असहनीय हो रहा है: "बताया गया / कोशिश चल रही थी / समाजवाद लाने की / बिगुल बने / अश्व सजे / मार्च और फ्रंट हुए / कदम मिलने पर / तालियाँ बजी / पर आँखें खुलीं / तो बस बाज़ार थे / दुखों के पहाड़ 'दो दूनी चार' थे!"[35] यह त्रासद दुख-पीड़ा मोहभंग से उपजी है। शासन-व्यवस्था की विकासवादी नीतियों पर कटाक्ष करती ये पंक्तियाँ हाशिए पर बसे जीवन की दुरावस्था का चित्र है। दुखों के पहाड़ तले जीवन-बसर करते आमजन का जीवन आज भी गरीबी-भय-असुरक्षा में ही बीत रहा है। वहाँ 'समाजवाद' महज़ एक यूटोपिया बनकर रह गया है। समाजवाद के रहनुमाओं ने समाजवादी चेतना को समय के साथ काल-कवलित कर दिया। कवयित्री आलोका कुजूर ने आदिवासी क्षेत्रों में इसके प्रभाव को दूर-दूर तक महसूस नहीं किया। आदिवासी जगत में मुख्यधारायी राजनीति ने आदिवासी जीवन और उनके संसाधनों का अपने लाभ के लिए अवैध तरीके से दोहन किया है।

'दिल्ली में है झारखंड' और 'खजूर की चटाई' आदि गहरे सांस्कृतिक-बोध की कविताएं हैं। अपने समाज, अपने प्रदेश के भविष्य को शिक्षा-रोजगार के लिए दर-दर भटकते देखना और अपने गाँव की लोक संस्कृति अथवा अपने-अपने परिजनों की चिंता आदि में जीवन समाप्त कर देना, आने वाली पीढ़ी के लिए दुखद है। कवयित्री ने 'ताज महल की दुनिया' कविता में ताज को बिल्कुल नए दृष्टिकोण से देखा है। यहाँ ताज 'मृत्यु का अमर, अपार्थिव पूजन' न होकर भूखों का सहारा बनता है। 'पूरे देश की अर्थव्यवस्था अब टिकी है शाहजहाँ के प्यार पर'। आर्थिक दृष्टिकोण से ताज को देखना तथा उसे पूरे देश की अर्थ-व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण हिस्सा मानना कवयित्री की मौलिकता है। प्रेम की कोमल संवेदना को झकझोरने वाली तथा प्रेम की आस को प्रज्ज्वलित करने वाली उनकी कविता 'पूरा-पूरा चाँद' चाँद की शीतलता से जीवन को महमह करने वाली प्रतीकात्मक कविता है। पूरा चाँद प्रेम के उत्सव का

बिम्ब है : "पूरा-पूरा चाँद आया है / मेरे घर / तेरा पैगाम लेकर / तेरा एहसास लेकर / पूरा-पूरा चाँद।"[36] संघर्ष के बीच कवयित्री का यह प्रेम-राग ही असल मायनों में जीवन की संकल्प-शक्ति को अजेय बनाए रखता है।

जसिन्ता केरकेट्टा आदिवासी जीवन और प्रकृति की युवा स्वर हैं। उनकी कविताओं में निहित आक्रोश, घुटन, सत्ता-व्यवस्था का अमानवीय चरित्र आदि अभी-अभी घटित हुए प्रायोजित खिलंदड़ेपन का परिणाम है। प्रकृति और स्त्री, भूख और बेरोजगारी, टूटते पहाड़ और सूखती-प्रदूषित होती नदियां जसिन्ता केरकेट्टा की कविताओं में बार-बार आती है। वह अपने मूल रूप को पाने की जद्दोजहद और नष्ट होते पर्यावरण की गुहार-सी लगाती है। आदिवासी क्षेत्रों में उद्योग-फैक्टरियों को बसाकर उनकी नदियों को प्रदूषित-जहरीला बनाना, आदिवासी महिलाओं की तस्करी, लीज़ पर पहाड़ों के विस्फोट और उनमें काम करती सस्ते दरों पर महिलाओं की स्थिति आदि की शिनाख्त जसिन्ता अपनी कविताओं में करती हैं। 'नदी और लाल पानी' कविता न सिर्फ प्रदूषित, जहर बनती नदियों की कथा कहती है बल्कि उस नदी पर गुजर-बसर करने वाले आदिवासी जन-जीवन को भयानक बीमारियों और लगातार उस पानी को पीने से मृत होते मासूम लोगों के सवाल को भी खड़ा करती है। विकास का दावा करने वाले मानवभक्षियों के लिए यह सवाल पूछती कविता उस क्षेत्र की जनता की आवाज़ है। सारंडा क्षेत्र में कोका-कोला कम्पनी के फैक्ट्री से रसायनिक उत्सर्जन से उस क्षेत्र की नदियों के पानी का रंग लाल हो गया है जिसे पीकर उस क्षेत्र में लोगों की मौतों ने विकास के इस विद्रुप भयानक चेहरे को उजागर किया है : "कोका-कोला बनाकर / तुमने उसे ठंडा होने का मतलब बताया / तो अब दुनिया को भी बताओ / सारंडा के नदी-नालों में बहते / लाल पानी का मतलब क्या है?...पीकर जिसे मौत को गले लगा रही है सोमारी / उसकी लाल आँखें सवाल पूछती हैं तुमसे।"[37] उपेक्षा भाव और वर्चस्ववादी कूटनीति का परिणाम कितना घातक होता है। यह इन्हीं बातों, घटनाओं से अंदाज़ा लगाया जा सकता है कि इन घटनाओं, अमानवीय नीतियों की खबर

तक आमलोगों को नहीं होती। एक ओढ़ा हुआ संकीर्ण और उपनिवेशवादी मर्यादा का चोला पहने वे अपने राष्ट्र और राष्ट्रवाद की भोंडी सूरत तैयार कर रहे होते हैं। उनके आसपास के दमघोंटू वातावरण, संकीर्णता, रूढ़ियाँ आदि उन्हें दिखाई नहीं देता। जसिन्ता जैसी कवयित्री जो अपने समुदाय की ही चिंता नहीं करती हैं बल्कि वे इस देश की अपार संसाधन और जल-जंगल-जमीन की रक्षा हेतु, उसे प्रदूषित-मलिन होने से बचाने की राष्ट्रीय कर्तव्य भी निभाना चाहती हैं, वह इस देश को भूख और बेरोजगारी, छूआछूत और पूर्वाग्रह आदि बीमारियों से बचाना चाहती है। हाशिए की आवाज़ को न्याय की चौखट पर खड़े होते देखना चाहती है। 'जमुनी रोको खुद को बिकने से' आदिवासी क्षेत्रों में निरंतर हो रहे महिलाओं की तस्करी को दिखाता है। 'टूटते पहाड़ और टूटती जिंदगियाँ' पहाड़ी जीवन के विनाश और पतन होते मूल्यों की दास्तान है। 'सुगना की कब्र और मड़ुआ का अंकुर', 'प्रकृति और स्त्री', 'आग तो लगानी होगी' आदि दर्जनों कविताएं आदिवासी जगत की पल-पल बनते-बिगड़ते इतिहास की दस्तक है। स्त्री के प्रति बढ़ते अपराध और पूर्वाग्रह भाव ने भारत के लगभग प्रत्येक समाज को मिसोजिनिस्ट बना दिया। कवयित्री इस भाव से अपने समाज व राष्ट्र को मुक्त करना चाहती है।

जसिन्ता नरभक्षी नीतियों और सत्ता के चरित्र को बड़ी सहजता से अपनी कविताओं में खोलती हैं। सारंडा क्षेत्र के नदी का प्रदूषण हो या टूटते पहाड़ों के बीच टूटती जिंदगियाँ या भूख से मरते सुगना की पत्नी और बच्चे अथवा जमुनी जैसी लड़कियों की तस्करी आदि सभी परिस्थितियों में आधुनिक होते समाज की उपेक्षा, चुप्पी और संवेदनहीनता की भूमिका खलती है और उससे अधिक खलती है अपने समाज के उन दोमुंहेपन पात्रों का चरित्र जो दलाल की भूमिका निभाकर अपनी बहु-बेटियों के साथ अपने जल-जंगल-जमीन का सौदा करता है। इस विभीषिका को नेस्तनाबूद करने के लिए कवयित्री अपने भीतर की वैचारिक आग से सबको जगाना चाहती है: "अंगार से / इस नरभक्षी जंगल में / अब आग तो लगानी होगी।"[38] यह आग भारतीय युवा चेतना की आग है।

अब तक प्रकाशित उनके तीन काव्य-संग्रहों ('अंगोर' (2016), 'जड़ों की जमीन' (2018) और 'ईश्वर और बाजार' (2021)) की कविताओं में निरंतर कवयित्री ने आदिवासी जगत के शोषित-पीड़ित तथा सत्ता द्वारा दमित, हृदय के चित्कार को उकेरा है। माओवाद के नाम पर भोले-भाले आम गरीब आदिवासी को पकड़ना, उसे पीट-पीट कर अधमरा कर देना अथवा कभी-कभी गोलियों से उसकी छाती छल्ली कर देने वाले दारुण कराह को जसिन्ता ने स्वर दिया है। कवयित्री आदिवासी अस्मिता के साथ ही अपने प्रदेश की प्रकृति और संस्कृति के प्रति विशेष रूप से चिंतित है। आदिवासी स्त्रियों के प्रति उनका सरोकार गहरा है। आदिवासी स्त्रियों को मांस का लोथड़ा समझने वाले तथा सरेआम उनकी आबरू नेस्तनाबूद करने वाले दिकुओं पर कवयित्री जबरदस्त प्रहार करती है। 'वापसी', 'प्रकृति और स्त्री', 'जमुनी रोको खुद को बिकने से', 'परवाह', 'आधी स्त्री', 'डर', 'मातृभाषा की मौत', 'महुआ चकित है' आदि कविताएं आदिवासी स्त्री की अंतर्कथा को अभिव्यक्त करती है। आदिवासी समाज की व्यथा-कथा को उसी की बोली-संस्कृति में जसिन्ता व्यापक समाज के समक्ष रखना चाहती हैं।

झारखंड की खड़िया भाषी रोज केरकेट्टा अपनी कविताओं की अलहदा प्रतीक, बिम्ब, रूपकों तथा भाषा प्रयोग के लिए जानी जाती हैं। स्त्री सशक्तिकरण की अलख जगाती उनकी कविताएं पुरुषसत्तात्मक समाज की अनगढ़ भाषा ही अख़्तियार कर उन्हें चेताते दिख पड़ती हैं। 'पहरेदार', 'स्त्री', 'बरगद', 'बसंत अकेला नहीं आता', 'बाँध', 'सिर्फ पुस्तक मत पढ़ना' आदि कविताएं रोज केरकेट्टा के स्त्री संबंधी चिंतन के साथ ही सामासिक भावना को भी दर्शाती है। बलात्कृत स्त्री के गर्भ प्रसूत बच्चे और उसके प्रति सामाजिक पूर्वाग्रह-संकीर्णता के बीच स्त्री के नियन्ताओं पर तंज़ कसती हैं : "स्त्री पहरे में गर्भवती होती है / जनती भी है / पहरेदारी में ही / दूध भी पहरेदारी में ही पिलाती है / और फेंक भी आती है / पहरेदारी में ही बच्चा / कौन हैं वे पहरेदार? शायद नाम उनका होता है - पति, प्रेमी, रेपिस्ट, रिश्तेदार / पर वे / स्त्री के जग नियन्ता नहीं होते।"[39] स्त्री के जग नियन्ता बनने के दम्भ में पुरुष वर्ग (पति-प्रेमी-रेपिस्ट-रिश्तेदार)

के सभी चरित्रों को कवयित्री ने कटघरे में खड़ा किया है। संबंधों और प्रेम आदि का भुलावा देकर स्त्रियों को घर में कैद कर गुलाम बनने वाले ये संबंध पुरुषवादी संरचना की एक फाँस है। ये स्त्रियों के जीवन में सहयोगी न होकर हमेशा 'पहरेदार' की भूमिका में मौजूद रहता है। किसी भी दृष्टिकोण से ये स्त्री के जग नियन्ता नहीं होते। कवयित्री स्त्री-शक्ति के मूल उत्स को जगाना और पहचानना चाहती है जो मधुर संबंधों से निरपेक्ष हो, अपने न्याय के लिए तत्पर रहे। अपनी भाषा-साहित्य और समाज के प्रति सर्जनात्मक समर्पण भाव रोज केरकेट्टा को अलग पहचान देती है।

रोज केरकेट्टा कविता में स्त्री-पुरुष संबंध को साझा संस्कृति के रूप में देखती हैं। वहाँ कोई बाइनरी पोजीशन नहीं होता जिसमें एक का ओहदा श्रेष्ठ साबित हो और दूसरे का तुच्छ या उससे प्रसूत। जब वे 'बरगद' के जोड़े पेड़ को भी देखती हैं तो उन्हें वह स्त्री-पुरुष (भाई-बहन) के रूपक के रूप में ही देखती हैं। पेड़ को लोकतंत्र का प्रतीक मानना आदिवासी संस्कृति की नितांत मौलिक उपज है। कवयित्री की भाषा, प्रतीक और बिम्ब आदि उनकी अपनी क्षेत्रीयता व आंचलिकता की सन्नद्धता को प्रदर्शित करते हैं : "लोकतांत्रिक पेड़ पर / न कोई भूखा / न कोई प्यासा / न कोई अमीर / ना... कोई गरीब / सब आज़ाद, सब आज़ाद।"[40] यह आज़ादी, यह स्वतंत्रता-समानता और उन्मुक्तता ही आदिवासी लेखन की पहचान है जिसका एकमात्र उद्देश्य मनुष्यता के तल पर सबको उतरते देखना है। 'बसंत अकेला नहीं आता', 'बाँध' आदि कविताओं में भी आदिवासी जनजीवन की सामासिक संस्कृति की तसदीक मिलती है। व्यक्तिवाद की यहाँ कोई जगह नहीं है। सामूहिकता ही जीवन का मूल मंत्र है। इस सामासिकता अथवा सामूहिकता में स्त्री की अधोगति करने वाली सत्ता-व्यवस्था पर कवयित्री चुप्पी नहीं साधती बल्कि उसका प्रतिकार करती है। 'पहरेदार', 'स्त्री', 'सिर्फ पुस्तक मत पढ़ना' आदि कविताओं में एक ओर जहाँ पितृसत्तात्मक व्यवस्था पर कटाक्ष है, वहीं दूसरी ओर स्त्री के भीतर दहकती आग की तपन भी है। जीवन देने वाली जीवन को हर भी सकती है। आदिवासी जगत

की, विशेष कर कवयित्री के स्थानीय वातावरण की गूँज तथा खड़िया भाषा की अनुगूँज उनकी कविताओं को लोकरंग से भर देता है। स्थानिक परिवेश तथा आदिवासियत दोनों मिलकर रोज केरकेट्टा की कविताई को उनकी मूलभूत इकाई जल-जंगल-जमीन से जोड़ते हैं।

खड़िया भाषा की ही एक और युवा कवि हस्ताक्षर सरोज केरकेट्टा ने अपनी कविताओं से आदिवासी मिट्टी के युवा स्वर को शब्दबद्ध किया है। कुछ कर गुजरने की चाह और उसे न कर पाने की घुटन को अभिव्यक्त करती उनकी कविताएं गाँव-घर में घुस आए अपार्टमेंट संस्कृति / हाउसिंग सोसायटी, खेती-मजदूरी से नदारद किसान और विस्थापित होती ज़िंदगियों का आर्तनाद है। बाल मजदूर की आह को वाणी देती 'उस्ताद' कविता और रोजगार के लिए गोवा जाने की योजना बनाते प्रेमी जोड़े की 'मजदूर' कविता सरोज केरकेट्टा की चिंता के केंद्र में है। उनकी 'कुम्हार-पुत्री', 'रास्ते बंद है', 'घर', 'क्रांतिकारी', 'क्यों हार गए' आदि कविताएं समाज के सबसे निचले तबके में ज़िंदगी बिताने वाले लोगों की संवेदना-तंत्र की छवियाँ हैं। गरीबी, भुखमरी और बेरोजगारी के सवालों से जूझता एक चित्र देखें जो हमारी संवेदनाओं को कचोटता है : "बेटे का हाथ पकड़ / बेटी को पीठ में बाँध मेरी माँ / चली जाती है खेत / निकोनी करने / बेटी को मेड़ पर सुलाकर / बेटा छाता लगाता है / रात को / धान झून-कूट कर / माड़-भात बना / आलसी बराह हिस्सा / बाँट लेता है / क्यों हार गई माँ वचन से? / वचन से हार गई माँ / ज़िंदगी दुश्मन हो गई।"[41] अभाव और विपन्नता में रिसती ज़िंदगी दुश्मन हो ही जाती है। समाज के आगे स्त्री का श्रम वैसे भी कोई महत्त्व नहीं रखता। समस्त स्त्री-लेखन इस बात को वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषित करता है और स्त्री के श्रम के मूल्य को स्थापित करता है।

सरोज केरकेट्टा आदिवासी समाज की स्त्रियों के श्रम को उनके अवमूल्यन तथा बेरोजगारी को अलग-अलग रूपकों में देखती हैं। कहीं शहर में मजदूरी करती स्त्रियाँ शहरातियों की आँखों की किरकिरी बन जाती हैं और कभी उनकी 'कालिख पुती आँख' उसे पल-पल डरातीं हैं : 'वन की हिरनी बन गई शहर की हिरनी!' और कभी-कभी मजदूरी के लिए फटेहाल

ज़िंदगी बिताने को अभिशप्त मजदूर जोड़ा महसूस करते हैं : "इस देश में पानी नहीं बरसता / मज़दूरी का थैला छोटा हो गया है।"[42] कवयित्री ने हाशिए के समाज को तथा वन-प्रान्तर के समाज के श्रम-सौन्दर्य को मानवीय जीवन के संवेगों से जोड़कर उसे एकमेक कर दिया है। आधुनिक उपकरणों और मशीनी संस्कृति में मजदूरी पर आश्रित वर्ग निरंतर उपेक्षा-विस्थापन-भुखमरी आदि का शिकार होता रहा है। इनमें आदिवासी समुदायों से विस्थापित होने वाले मजदूरों की दशा और भी त्रासद है। आदिवासी वर्ग के श्रम के साथ-साथ आदिवासी अस्मिता को भी सरोज ने अपनी कविताओं में प्रमुखता से उठाया है। सत्ता-व्यवस्था से नाउम्मीदी और कविता से, अपने जन समुदाय से कवयित्री की उम्मीदें एक भरोसा जरूर कायम करती है।

नागपुरिया भाषी सरिता सिंह बड़ाइक आदिवासी परिवेश की चित्रकार कवयित्री हैं। उनकी कविताओं में झारखंड के ग्रामीण अंचल के विभिन्न चित्र और चरित्र शामिल है। नागपुरिया भाषा की चिक बड़ाइक समूह की सांस्कृतिक एवं आंचलिक शब्दों-रूपकों को उनकी कविताओं में आसानी से देखा जा सकता है। सरिता जी नागपुरिया और हिंदी दोनों भाषा में साहित्य रचना करने में सिद्धहस्त हैं। उनका एक कविता संग्रह 'नन्हें सपनों का सुख' भी प्रकाशित हुआ है। 'आजी', 'भूले नहीं भुलाये', 'लोककथा', 'फगनी' आदि कविताएं आदिवासी ग्रामीण अंचल की लोक कथा आत्मकथात्मक रूप में लिपटी भूख और अशिक्षा से जूझ रहे मनुष्यों की त्रासदी है। 'आजी' और 'भूले नहीं भुलाये' कविता ग्रामीण परिवेश और ग्रामीण लोगों की दिनचर्या, एक जून की रोटी और आत्मसम्मान के लिए जद्दोजहद होती ग्राम वासियों की तस्वीर को गवईं पन के साथ चित्रित करती है। 'अदहन', 'चाकोड', 'माड़', 'लेदरा', 'मड़ुआ', 'दोईन', 'पेरवा', 'तेतर', 'डुहु', 'डुमर', 'गाज' आदि ऐसे अनेक शब्द हैं जो हिंदी कविता की शब्द संपदा को समृद्ध करते हैं। इन शब्दों में आदिवासी परिवेश की संपन्नता और विपन्नता दोनों ही ध्वनित होती है।

सरिता जी आदिवासी समुदाय की श्रमशील स्त्री की प्रतिरोधी छवि को कविता में स्थान देती हैं। 'क्या हूँ मैं', 'अति', 'तकिया', 'बेटी और नागफनी', 'घासवाली' तथा 'कहाँ गए सब के सब' कविताओं में प्रयुक्त स्त्री-बिम्ब देशज स्त्री-विमर्श को जन्म देते हैं। अपनी अस्मिता की खोज करती ये स्त्रियाँ स्वतंत्र व्यक्तित्व की धनी होना चाहती हैं। शोषण के खिलाफ, अन्याय के खिलाफ आवाज़ उठाना चाहती हैं लेकिन वर्ग की खाई उसे निःशब्द बना देती है। वर्ग एवं स्थिति के अनुरूप दुर्व्यवहार का रूप बदल जाता है। घासवाली से छेड़छाड़ और आधुनिक लिबास में लिपटी स्त्री से टकराने पर 'सॉरी' कहने के रहस्य को वह समझ नहीं पाती : "'मैं घास बेचती बाबू देह नहीं।' / आक्रोशित आँखें कहतीं / पर जुबान रहती निःशब्द! / जुल्फें कटी / पहने आधुनिक लिबास / जब कोई / उसी अजनबी से टकराती / हाथ जोड़कर कहता वह झट-पट / 'सॉरी' मैडम!'।"[43]

सरिता सिंह बड़ाइक की कविताओं का यह संसार ग्रामीण आंचलिक आदिवासी समुदाय के जनजीवन, रहन-सहन, सांस्कृतिक मूल्यों और परम्पराओं के साथ ही आक्रोश, प्रतिरोध और उनकी लोक चेतना आदि को समझने में सहायक है। ग्रामीण परिवेश और स्त्री के अधिकारों के साथ गरीबी और भुखमरी से पीड़ित अनाथ 'बच्चा' भी जो बाल-मजदूरी के लिए अभिशप्त है, वह भी कवयित्री की संवेदना को बार-बार झकझोरता है। अर्थाभाव की चक्की में पिस रहा यह समुदाय अपनी विरासत और प्राकृतिक पहचान खोते, अपने संसाधनों से बेदखल होते अपने अस्तित्व को बचाने की पुरजोर कोशिश कर रहा है। सरिता जी की अधिकांश कविताओं में अपने समाज के अतीत के प्रति एक खास तरह का लगाव है जिसमें प्रकृति-खेती, बचपन के खेल, दादा-दादी-नाना-नानी आदि के सीख उनका श्रम तथा आदिवासी खानपान-रहन-सहन, वेशभूषा आदि के साथ ही उनकी बोली-भाषा सब मिलकर उनके स्थानीय सांस्कृतिक बोध को पुष्ट करता है। शिक्षा के प्रति संवेदनशीलता और अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक होते आदिवासी समाज के छोटे-छोटे सपनों को भी कवयित्री ने स्वर दिया है।

आदिवासी लोककथाओं का नैतिकतापरक संदेश एवं संघर्ष दोनों का घुलामिला बोध भी उनकी कविताओं को अलग रूप देता है। आदिवासी समाज में घुसपैठ किये दलालों-तथाकथित उद्धारकों की वहशी दरिंदगी चाहे वह- इनकी बहु-बेटियों पर हों, बाजार में जीविकोपार्जन हेतु हँड़िया, लकड़ियाँ बेचती स्त्री का हो या शराब पीकर मदमस्त इनके समाज के मालिक-पुरुषों से जमीन हथियाने की कूटनीतिक चालें हों- आदि सभी पर कवयित्री ने अपनी चिंता व्यक्त की है।

सरिता सिंह बड़ाइक की कविताओं में स्त्री-विषयक चिंतन अपेक्षाकृत अधिक व्यापक और आधुनिक है। वे स्त्री-अस्तित्व के प्रति जागरूक तो हैं ही साथ ही, शोषित-पीड़ित स्त्री के सामाजिक सम्मान के लिए भी लामबंद हैं। 'क्या कहूँ मैं' और 'अति' जैसी कविताओं का केन्द्रीय तत्व इसी भाव को उजागर करता है। 'तकिया', 'बेटी और नागफनी', 'घासवाली' आदि कविताओं में निहित प्रगतिशीलता के तत्व ग्रामीण स्त्री की चेतना को निबद्ध करते हैं। समकालीन हिंदी आदिवासी कविता का स्त्री-स्वर कई अर्थों में आधुनिक हिंदी कविता में एक नया आयाम जोड़ता है। एक नयी दुनिया के चित्र और चरित्र, भाषा और शब्द-संपदा तथा प्रकृति के साथ स्नेहमयी मानव संबंध कविता के स्वरूप को और भी विस्तृत रूप देता है। उपेक्षित, पददलित मानवीय इतिहास का यह समुदाय कविता की दुनिया में रंग-ओ-साज के साथ प्रतिबिम्बित होकर अपनी दृढ़ता, उच्चता और सामूहिकता की भावना को प्रसारित कर रहा है। अपने जीने का हक़, अपने सांस्कृतिक-संसाधनों को बचाने की कोशिश में, अपने प्राणों तक को न्योछावर करते यह प्रकृति प्रेमी सच्चे अर्थों में मूलनिवासी और मनुष्यत्व का प्रकृति-धर्म निभा रहे हैं। आदिवासी जगत को साहित्य में, कविता में मूर्तिमान करने वाली कलमशिल्पी निर्मला पुतुल, आदिवासी स्त्री की असहनीय शोषण, पीड़ा और बलात्कार आदि की कथा कहते हुए पूरे आदिवासी जनजीवन की समस्याओं, अंधविश्वासों और अव्यवस्था को चित्रित करती हैं। सत्ता का चरित्र और उनकी नीतियों का पर्दाफाश करते हुए कवयित्री अपने समुदाय

के नरभक्षियों-दलालों और हत्यारों के चरित्र को भी कविता में अभिव्यक्त करती है। अपने महानायकों से वैचारिक ऊर्जा के उजास से निर्मला क्रान्ति के स्वर को पुनः मूर्त करना चाहती हैं।

आदिवासी जगत की राजनैतिक, सामाजिक उपेक्षा, उनके इतिहास व सांस्कृतिक मूल्यों तथा उनकी प्रजातियों-वंशजों के अपमान आदि को नए सिरे से बहस के केंद्र में लाना उनकी साहित्य-सर्जना का मूल उद्देश्य है। इस क्रम में ग्रेस कुजूर, रोज केरकेट्टा, सरोज केरकेट्टा, ज्योति लकड़ा तथा सरिता सिंह बड़ाइक आदि की कविताएं भी आदिवासी समाज की विभिन्न समस्याओं के साथ धूमिल होती जा रही उनकी पहचान को पुनः इतिहासबद्ध करने की कोशिश है। इन कवयित्रियों ने अपने क्षेत्रों की सामूहिक चिंता को कविता में साधने का प्रयत्न किया है। आदिवासी कविता की नयी जमीन को तैयार करती जसिन्ता केरकेट्टा का युवा स्वर आदिवासी जगत की संभावनाओं और चुनौतियों को बौद्धिक बहस का हिस्सा बनाने की भरपूर कोशिश करता दिखता है। आदिवासी स्त्री-कविता की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सामूहिक अस्मिता की चिंता है। वैयक्तिकता की अपेक्षा सामूहिक भावना समस्त आदिवासी चेतना को एक सूत्र में पिरोती है।

iii. स्त्री-कविता में स्थानीयता और लोकधर्मिता :

स्त्री-कवियों ने विरासत में मिली लोक-चेतना और स्थानीय सांस्कृतिक बोध के समंजन से कविता में एक महावृतांत के स्वरूप को गढ़ा है। लोकगीत तथा लोकाचार हमारे समाज की सांस्कृतिक चेतना का अहम हिस्सा हमेशा से रहे हैं। सुख-दुख के अलावा उत्सव-अनुष्ठान आदि में लोकधर्म का निर्वाह सामाजिकता का ही हिस्सा है। लोकधर्मिता के तत्व स्थानीय संस्कृति-भाषा-बोली तथा आचार-विचार आदि वर्षों से लोकमानस में व्याप्त रहे हैं।

समकालीन स्त्री-कवियों ने अपनी कविताओं में अपने क्षेत्र की स्थानीय संस्कृति, स्थानीय भाषा के साथ-साथ स्थानीय परिवेश को एक नयी पहचान दी है। कविता में स्थानीयता का माहात्म्य समकालीन कविता की नवीन विशेषता है। अपने-अपने क्षेत्र में बसी लोकधर्मिता के तत्व को स्थानीय परिवेश से एकमेक कर स्त्री-कविता ने अपनी जड़ों को सींचने का काम किया है। गगन गिल में अपने स्थानीय परिवेश की अपेक्षा लोकधर्मिता के तत्व अधिक मौजूद हैं। कात्यायनी के संघर्ष में उनका प्रदेश लखनऊ (उत्तर प्रदेश) की गतिविधियों के साथ ही वहाँ के लोकमानस के बिम्ब व्यंग्यात्मक रूप में प्रमुखता से कविता में उतरते हैं। अनामिका का पूरा काव्य-संसार ही लोक संस्कार और उसकी रसोन्मत्त स्मृतियों से पूरित है। बिहार से दिल्ली तक के सफर व विस्थापन की यात्रा के छायाचित्र संस्मरण शैली रूप में उनकी कविताओं में अपने पूरे ठाट से बसते हैं। चूँकि अनामिका के पास ग्रामीण और शहराती दोनों ही संस्कृतियों का अनुभव है। अतः कवयित्री लोक के एक-एक थिरकन को कविता में बाँधती है। सविता सिंह भी इसी तरह की परिस्थितियों से उबरकर कविता के आँगन में पैर रखती हैं। लेकिन उनका स्थानीय-बोध व लोकधर्म का एहसास अलग है। वह नितांत स्त्री-दृष्टि से उन गुत्थियों को खोलती हैं जो सदियों से स्त्रियों के लोकमानस में गूँथ दिए गए।

रंजना जयसवाल ने अपने आस-पास प्राकृतिक-अप्राकृतिक घट रही छोटी-बड़ी घटनाओं के सहारे अपने परिवेश से अवगत कराया है। स्थानीय परिवेश का मूर्तिकरण नीलेश रघुवंशी की कविताओं का मेरुदंड है। उनकी कविताओं का स्थानीय-बोध अधिक स्पष्ट और स्वच्छंद है। गंजबासौदा की धूल-मिट्टी हो या भोपाल की उतार-चढ़ाव या ढलान वाली सड़कें आदि सभी उनकी कविताओं के चित्र को पूरा करती है। ग्रामीण संस्कृति और नागर संस्कृति में आमजन का मिलना-जुलना, इकरार-तकरार के साथ-साथ युवा स्त्री-पुरुष संबंधों की धमा-चौकरी आदि में बसे लोकधर्मिता के तत्व ने उनकी कविताओं को सामूहिकता की भावना से भर दिया है। दलित स्त्री-कवियों में रजनी तिलक और सुशीला टाकभौरे की कविताओं में भी बार-बार उनके स्थानीय संस्कृति की झलक मिलती है। रजनी तिलक की कविताओं में दिल्ली के गली-कूचों के साथ बड़ी-बड़ी सड़कें, मॉल कल्चर आदि का जिक्र आया है। सुशीला टाकभौरे मराठी प्रदेश की छवियों को अपनी कविताओं का हिस्सा बनाती हैं लेकिन उनकी कविताओं में बसा लोकधर्मी स्वर हृदय विदारक है। वर्गीय असमानता के साथ जातीय शोषण की नीतियाँ इनमें स्पष्ट है। आदिवासी स्त्री-कविता की प्रमुख हस्ताक्षर निर्मला पुतुल की कविताओं में उनका संथाल परगना ही बोलता है। आदिवासी वर्ग के लोकधर्म की नयी आहट हिंदी कविता के लिए एकदम नयी है। आदिवासी स्त्री-कवियों ने न सिर्फ कविता की अंतर्वस्तु में, बल्कि कवि-भाषा में भी अपनी स्थानीयता की छाप छोड़ी है।

स्त्री-कविता में स्थानीयता और लोकधर्मिता की चर्चा इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि बार-बार स्त्री की प्रज्ञा एवं बौद्धिकता पर प्रश्न चिह्न लगाया जाता है; उनकी राष्ट्र संबंधी चेतना को परिवार के सीमित दायरे में बाँधकर उसे खारिज किया जाता है अथवा घर की चारदीवारी की चाकरी में ही बाँध दिया जाता है। स्त्री-कविता में उभरे स्थानीय-बोध तथा अपने-अपने लोकधर्म का उभार भारतीयता की नींव है। अपनी मिट्टी, अपने अंचल तथा अपने प्रदेश के प्रति प्रेम-भाव का निरूपण है। अपने प्रदेश की विविधता-आंचलिक विशिष्टता और लोकमानस में

बदलती राष्ट्र की चेतना आदि सभी मेलंकली भाव से स्त्री-कविता के आंतरिक सौष्ठव को दृढ़ता प्रदान करती है। 'लोकल इज ग्लोबल' (Local is global) के भाव से इसे जाना जा सकता है। स्त्री अस्मिता की निर्मिति में भी इसकी महत्ता को स्वीकार किया जाता है। स्त्री-कविता का 'मैं' कोई व्यैक्तिक भाव नहीं बल्कि वह सामूहिक स्त्री-चेतना का प्रतिबिंब है। उसकी चेतना में उसके स्थानीय परिवेश और उसकी लोक संस्कृति का भी योग होता है। अर्थात् स्त्री-कविता में स्थानीयता और लोकधर्मिता के तत्व स्त्री-व्यक्तित्व एवं स्त्री-अस्मिता के पहचान का हिस्सा है, प्रकारांतर से वह समाज का भी हिस्सा बनता है। इनका प्रखर स्थानीय-बोध इनके काल-बोध का भी सूचक है।

कात्यायनी की कविताएं रोज़मर्रे के जीवन का फलसफा है। कविता को क्रांति-प्रतिक्रांति के साथ समय की नब्ज मानने वाली कात्यायनी की कविताओं में स्थानीयता और लोकधर्मिता के तत्व अनायास ही गुंथे आते हैं। उनकी 'गार्गी', 'दिल्ली पर एक कविता', 'कवि और कर्ज', 'कहाँ चले खुसरो?', 'रामधनी', 'गोयबल्स 1994', 'वे अपने लिए मृत्युलेख लिखते हैं', 'आह मेरे लोगों! ओह मेरे लोगों' आदि दर्जनों कविताओं में इस रूप को देखा जा सकता है। भारतीय समाज की कुरूपता व बहुरूपता के प्रति, उसके स्त्री संबंधी पूर्वग्रह के प्रति कवयित्री का रुख़ आलोचनात्मक है। अपने स्थानीय घटनाओं और गतिविधियों से कविता निकालना और अपने सामाजिक-राजनैतिक संघर्ष में उसे शामिल करना कवयित्री की विशिष्टता है। कभी वह लोक संस्कृति में 'गार्गी' के कथा के माध्यम से पितृसत्तात्मक समाज पर व्यंग्य कसती हैं तो कभी 'रामधनी' जैसे स्थानीय चरित्र को कविता में स्थान देती हैं। 'रामधनी' पीढ़ियों के संघर्ष से उपजा एक मानवतावादी चरित्र है लेकिन उनकी नई पीढ़ी छद्म आधुनिकता की आँधी में उन्हें स्वीकार नहीं करती। कात्यायनी के समाजकर्मी का व्यक्तित्व भी खुलकर सामने आता है। 'देहाती मजदूर यूनियन की बिरहा टोली में शामिल कॉमरेडों की बेटियों के लिए' वे इंकलाबी गीत लिखती हैं, उनकी ऊर्जा को सलाम करती है (गाओ! गाने की पुनर्जागृत अदम्य ललक

और दुर्निवार आवश्यकता के बोध के साथ गाओ!)। समाज की सभी परतों को कात्यायनी ने कविता में जीवन दिया है। उनकी कविताओं से निकली गाँव-शहर की संस्कृतियो में एक अलग किस्म की दुर्भीक्षता है जो निरंतर असमान व्यवस्था और कूटनीतिक फैसलों का परिणाम है। प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने कात्यायनी की कविता के बारे में लिखा भी है- "उनकी कविता में भारतीय समाज और संस्कृति की मूलगामी आलोचना-दृष्टि की रचनात्मक अभिव्यक्ति है।"[44] निःसंदेह उनकी कविताओं में भारतीय समाज और संस्कृति के प्रति एक आलोचनात्मक रुख़ है। समाज और संस्कृति के प्रति आलोचना-दृष्टि कात्यायनी की प्रखर मेधा का ही परिचय है।

'इस पौरुषपूर्ण समय में' काव्य-संग्रह की कविता-सीरीज की कविताएं विशेष रूप से स्थानीय बोध और लोकधर्मी स्वर से प्रभावित है। कविता सबकी अपनी-अपनी व्यथा-कथा कहती हुई अंततः उसके अन्तःकरण को अभिव्यक्त करती है। इसमें (34) कविताओं के शीर्षक में 'कविता' शब्द आया है। स्त्री चरित्र की पूर्वग्रह-त्रियाचरित्रम पुरुषस्य भाग्यम्-ऋग्वेद-मनुसंहिता आदि में उल्लिखित स्त्री चरित्र की दुरूहता को कैसे लोक में बसाये गए और उसकी परिणति क्या हुई? आदि सभी सवालों की पड़ताल कात्यायनी की कविता करती है। कात्यायनी के ही समानान्तर अनामिका की कविताएं एक भिन्न धरातल पर नजर आती है। अनामिका अपने लोक और परिवेश से संस्कारों को ; स्त्री के लोकधर्मी स्वर को, बहनापा की संज्ञा देते हुए उसे वैश्विक भगिनी भाव से जोड़ती हैं। उनकी कविताओं में पारिवारिक-सामाजिक रिश्तों की मिठास भरी थिरकन है जो पूरे वातावरण को स्त्रियों की आंतरिक हलचल से समृद्ध करती चलती है। उनके यहाँ 'स्त्रियों का हँसता-बोलता मुहल्ला है जहाँ माएं मौसियाँ बोलती-बतियाती अपने सुख-दुख की साझेदारी कर रही हैं। उनकी बन्दिशें भी साझी हैं और मुक्ति भी। मुक्ति अगर है भी तो इसी बहनापे की भावना में है। अनामिका इस बहनापे को बहुत महत्त्व देती हैं।'[45] अनामिका अपने इतिहास और वर्तमान के पात्रों को जीवंत रूप गढ़कर वर्तमान को एक स्वरूप देती हैं। 'मुहल्ले की आयरन-बालाओं के नाम', 'पतिव्रता', 'एक परित्यक्ता की मौत', 'जनाना

बीमारी', 'टच वुड', 'सार्वजनिक चौका', 'कुहनियाँ', 'अहा श्रीनारायण कथा', 'घूँघट के पट खोल रे' आदि कविताओं में आए बिम्ब स्त्री-संसार को अलग से रेखांकित करते हैं जो अपने परिवेशगत वातावरण के कारण विशिष्ट तो बनते ही हैं; उसके लोक का रंग भी अधिक गहरा है। मुहल्ले की आयरन बालाओं के श्रम में विस्थापन का दर्द और अपने आत्मगान के लिए एक अदद भाषा की तलाश उनके अपनी लोक की ही तलाश है: "दुनिया के तुड़े-मुड़े सपनों पर, देखो- कैसे वह चला रही है/ लाल, गरम इस्तिरी!/ जब इस शहर में नयी आई थी-लगता था, ढूँढ़ रही है भाषा ऐसी/ जिससे मिट जायेंगी सब सलवटें दुनिया की!/ ठेले पर लिए आयरन घूमा करती थी/ चुपचाप/ सारे मुहल्ले में!"[46] स्त्री-कविता भाषा के जरिए ही दुनिया की सारी सलवटों को दूर करना चाहती है। अनामिका की इन कविताओं में स्त्री-मन ही नहीं, लोक-मन के रुनझुन को भी सुना जा सकता है।

स्त्री-कविता ने हमारे आस-पास घट रही घटनाओं तथा दुनिया भर में हो रहे परिवर्तनों को देखने का नजरिया बदला है। स्त्री-कविता ने सामाजिक यथार्थ को उसकी संपूर्णता में रेखांकित किया है। सामान्य घटनाओं में, परिस्थितियों में, वस्तु एवं वस्तुस्थितियों में कविताएं कैसे छिपी हैं, यह स्त्री-कविता की काव्य-प्रतिभा बखूबी जानती है। यही कारण है कि उनमें स्थानीय बोध के प्रति ललक बढ़ जाती है। नीलेश की कविताएं कुछ ऐसे ही दृश्यों को लेकर चलती हैं। उनका कस्बा गंजबसौदा उनकी कविताओं की अंतर्वस्तु भी बनती और कविता की पृष्ठभूमि भी। साधारणता में से असाधारणता को खोज निकालना नीलेश का काव्य वैशिष्ट्य है। उनमें यह ताकत उनकी लोक चेतना तथा जनपद से ही आती है। स्त्री की काया के साथ ही किसान, महिला मजदूर तथा छोटे-व्यवसायी आदि तक की पैठ और अपनी पारिवारिक गतिविधियों की एक बड़ी तस्वीर उनके यहाँ ऐसे ही नहीं उभरती। उनकी संवेदना का फलक काफी विस्तृत है; जो असमानता में नहीं बल्कि सर्वसुलभता में विश्वास रखता है। केवल 'ढाबा' शीर्षक कविता के आठ अंशों के दृश्यों से ही उनकी स्थानीयता और लोकधर्मिता के बोध को

जाना जा सकता है। कवयित्री ने जैसे ढाबा के सहारे अपने पूरे परिवार और ढाबा की गतिमान दिनचर्या को सजीव रूप दिया है। बकौल मंगलेश डबराल "'ढाबा' शीर्षक कविता के आठ अंश अपनी विषयवस्तु में तो अनूठे हैं ही, वे सड़क के किनारे मोटरों के शोर और बैलगाड़ियों की धीमी रफ्तार के बीच बसे हुए एक मामूली और गरीब ढाबे की गतिविधि, उससे जुड़े परिवार के जीवन-दृश्यों, उसके मासूम विवरणों के जरिए एक पूरी दुनिया का रूपक निर्मित कर देते हैं। ढाबे को केंद्र में रख कर हिंदी में शायद इससे पहले कोई और कविता नहीं लिखी गई और उसकी आग रोटियों से जुड़े हुए जीवन को नीलेश इतने अनुराग और एंद्रीयता से उभारती हैं कि इसे हिंदी की युवा कविता की उपलब्धियों में गिना जा सकता है।"[47]

सामूहिक जीवन, सामूहिकता तथा सामाजिकता आदि नीलेश की कविताओं की मूल शक्ति है। यह सामूहिक जीवन भीड़ नहीं है बल्कि लोक के उत्सव की पहचान है। इसमें स्त्री-पुरुष, बच्चे-बड़े, देहाती-शहराती, शिक्षित-अशिक्षित आदि सभी की गलबहियाँ शामिल है। नीलेश की अधिकांश कविताओं का चित्र समूह में होता है चाहे वह स्त्रियों का आपसी जमघट हो या किसानों की मंडी में मोल-तोल अथवा दिहाड़ी मजदूरों का मजदूरी के लिए आना-जाना! इन समूहों में व्याप्त लोकधर्मिता का भाव ही इन्हें खास बनाता है। 'चबूतरा' शीर्षक कविता में स्त्रियों का आपसी संवाद- बेसिर-पैर की बातें महज बातें नहीं हैं बल्कि वह ग्रामीण जीवन-बोध की सच्चाई है : "चबूतरे पर बैठी औरतें करती हैं बातें/ सिर-पैर नहीं कोई/ अनंत तक फैली/ कभी न खत्म होने वाली भर देती हैं कभी गहरी उदासी और खीझ से। ..... कहती हैं उनमे से एक जन्मा है फलाँ ने बच्चा/ बढ़ जाएगा क़द उसका एक इंच/ मिलाती हैं सब हाँ में हाँ/ होती हैं खुश-/ निकलती है फिर नई बात-/ क्या जन्मने से बच्चा बढ़ता है क़द?/ क्यों नहीं बढ़ा फिर माँ का क़द?/ बताती है बहन/ बढ़ता है क़द बेटा जन्मने से/ जन्मी हैं माँ ने आठ बेटिया।"[48] इस संवाद के गहरे आशयों को तभी समझा जा सकता है जब आप संबंधित जनपद के लोक को-उसकी सांस्कृतिक चेतना को समझें। कवयित्री ने बड़ी सहजता से कस्बाई जीवन की सामान्य

घटना के मार्फत बड़ी सच्चाई को उजागर किया है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था के दंश को तथाकथित अनपढ़ समुदाय भी कैसे महसूस करता है, उसे उपरोक्त काव्य-संवाद में देखा जा सकता है। अनामिका की कविताओं में भी बार-बार मुहल्ले की औरतों की अम्मागिरी-मौसीपन-बुआपन तथा चाचीपंथी का जिक्र आता रहता है। नीलेश इस मायने में और सजग और स्वतंत्र हैं। स्वतंत्र इस लिहाज से कि वे अपने ही अंचल की साधारणता को अपनी कविता में मूर्तिमान करती हैं और अपनी क्षेत्रीय-आंचलिक भावभूमि तथा भाषा-शिल्प से उसे सुसज्जित करती हैं। संभवतः इसलिए नीलेश की कविता की पहचान उनका लोक और स्थानीयता से होने लगती है। परमानंद श्रीवास्तव नीलेश की कविता पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं - "कविता का लोकरंग विस्थापन का प्रतिवाद है। स्थानीयता नीलेश की काव्यात्मकता का मुख्य ध्रुवक है। गंजबासौदा की धूल भी नीलेश के लिए कविता है। यह कविता का प्रकृत देशज ठाट है। खुद से भिड़ने की ताकत।"[49] नीलेश की कविता में यह देशज ठाट आद्योपांत बना रहता है। 'चबूतरा', 'उदास', 'चाँद की मसखरी', 'रैली से लौटते हुए', 'चक्र : ग्यारह कविताएं', 'पहली रुलाई तक की डायरी'- की कविताएं स्थानीयता-बोध और लोकधर्मिता के भाव से पूरित है। कवयित्री का स्थानीय बोध इस हद तक वयस्क है कि गर्भावस्था में भी वह अपने ही जैसे अन्य स्त्रियों के बारे में चिंतित रहती हैं। 'नसीहत से भरा दिन' में कवयित्री की चिंता- "कहते हैं ढलान पर घूमना ठीक नहीं है इस समय/ अब भोपाल में कहाँ तक बचती फिरु उतार-चढ़ाव से/ पहाड़ों पर रहने वाली स्त्रियाँ क्या करती होंगी ऐसे समय।"[50] कितनी जायज और मनुष्यत्व से भरी है यह चिंता।

स्त्री-कविता की वर्तमान परंपरा में स्थानीयता और लोकधर्मिता के तत्व संभवतः सबसे अधिक नीलेश और अनामिका की कविताओं में ही है, हालांकि आदिवासी स्त्री-कविता में स्थानीय-बोध अधिक निखरकर आया है। नीलेश की ही समकालीन शुभा और रंजना जायसवाल की कविताओं में भी इन प्रवृत्तियों को देखा जा सकता है। शुभा की 'आजकल',

'एक पत्ता', 'कवि की हालात', 'मिठी ईद', 'लाडले', 'हमेशा रहने वाले' तथा रंजना जायसवाल की 'स्त्री है प्रकृति' संग्रह की सभी कविताएं अपने स्थानीय परिवेश और लोकधर्मी संवेदना से महमह है। स्त्री-दृष्टि की विशिष्टता उसकी सामूहिक भावना के विस्तार में है। जैसे एक स्त्री पूरे परिवार का भरण-पोषण बिना किसी अतिरिक्त लाभ के जीवन भर करती है उसी व्यापकता की तहरीर स्त्री-लेखन में भी समाहित है। यह नितांत उनका अपना अनुभूत क्षेत्र है जो सदियों से उनकी संवेदना का हिस्सा बनता रहा है। स्त्री-कविता इन्हीं संवेदनाओं का पूँजीभूत रूप है। वह ईंट-पत्थर से बने मकान को घर बनाने की कला जानती है; वह जानती है कि पूरे परिवार की भूख को कैसे मिटाया जा सकता है और दुर्दिन में घर को बिखरने से कैसे बचाया जा सकता है। कथित तौर पर अशिक्षित और अनपढ़ होने पर भी वह अपने मानस में सम्पूर्ण मानवता के प्रति सहानुभूति रखती है। निरे बियाबान में भी प्यार के उचकुन से वह घर ही नहीं अपने आस-पास के पूरे परिवेश को गुलजार किये रहती है और यह क्रम जीवनपर्यंत चलता है। प्रकृति का सानिध्य भी अधिक स्त्री के करीब ही रहता है। स्त्री भी अपना प्रतिरूप प्रकृति के नाना गतिविधियों से ही जोड़ती है। रंजना जायसवाल की कविताएं इस बात की साक्षी है। रंजना की कविताएं प्रकृति के भीतरी तहों की रूपात्मक अभिव्यक्ति है तो शुभा की कविताएं स्त्री के स्वभाव की प्राकृतिक विशिष्टता को रेखांकित करती है जो कमोबेश उनकी लोकचेतना का भी हिस्सा होती है : "उजड़ी हुई औरत/ तीन ओर पत्थर रखकर/ सार्वजनिक जगह पर/ बनाती है चूल्हा/ शाम फिर जमाती है वह/ अपना चूल्हा।"[51] यह भाव-बिम्ब स्त्री की स्वाभाविक प्राकृतिक गुण को ही अभिव्यक्त करता है जिसमें मानव ही नहीं मानवेतर प्राणियों के कल्याण की कामना भी स्वतः सिद्ध हो जाती है। शुभा की दृष्टि इन साधारण-से लगने वाले सतत परिवर्तन पर टिकी रहती है। विध्वंस के बाद भी सृजन की आस को सतत रूप में बनाए रखना मात्र स्त्री जाति के लिए ही संभव है।

स्त्री-कविता में प्रकृति के माहात्म्य स्वरूप को गढ़ने वाली रंजना जायसवाल ने कविता, स्त्री और प्रकृति को मानवी रूप में साकार किया है। प्रकृति को इस रूप में देखने की प्रेरणा उन्हें अपने लोक और स्थानीय प्रकृति सौंदर्य से ही मिली है। कटहल, आम, गमले के फूल-पौधों, मेघ में लहलहाते पेड़-पौधे, मिट्टी-कीचड़, बादल का उमड़ना-घुमड़ना, बसंत ऋतु की छटाएं, पहाड़ों की हरियाली आदि की अल्हड़ मस्ती और कवयित्री का इन सब के साथ आत्मीय संवाद पूरे परिदृश्य को प्रकृति की मधुरिमा से आच्छादित कर देता है। बादल का वर्षा से, पेड़ का पत्तों से, मिट्टी का मेघ के पानी तथा पेड़ों से आपसी संवाद को कवयित्री की काव्य-प्रज्ञा ने जिस बारीकी से उकेरा है, वह साक्षात् जीवंत हो उठता है। प्रकृति की एक-एक दशा-परिवर्तन में कवयित्री अपना ही अक्स देखती है। कवयित्री की नजरों में प्रकृति का संसार इस मानव प्रदत्त संसार से कहीं अधिक समृद्ध और विस्मयकारी है। प्रकृति के संगी-साथी पशु-पक्षी-तितली-कीट-पतंग के साथ पवन-वर्षा-बादल-प्रकाश ने मिलकर प्रकृति को एक नवीन आभा से मंडित किया है। समकालीन हिंदी स्त्री-कविता की परंपरा में संभवतः यह ('स्त्री है प्रकृति') पहली कृति जो आरंभ से अंत तक प्रकृति की सुनहरी रंगों-घटनाओं और परिवर्तनों को कविता के जरिए गुंजायमान रखती है। केवल बसंत पर ही दर्जनों उद्गार है। इन प्रकृतिपरक कविताओं को जो बात सबसे अधिक खास बनाती है, वह है उसका मानवी रूप में प्रस्तुत होना। कवयित्री प्रकृति की इन अनहद लीलाओं के बहाने ही स्त्री जीवन की दशाओं को मूर्त कर देती है। स्त्री और प्रकृति के पारस्परिक संबंधों के सहारे ही कवयित्री ने प्रकृति का स्त्रीकरण किया है। स्त्रीकरण की यह प्रक्रिया इतनी मौलिक और प्राकृतिक है कि उन्हें अलगाना कठिन है। प्रकृति-चित्रण अपने स्थानीय संस्कृति और लोकधर्म का ही निर्वाह है। प्रकृति-चित्रण में कवयित्री का मन इतना रम गया है कि वह प्रकृति के लिए उपमाओं की ढेर लगा देती है। यह उपमान भी मानवीय जीवन-जगत से ही निःसृत है। बसंत को 'दूल्हा बसंत' बनाती है, कटहल को भाई, कुहासे को रज़ाई, उपेक्षित घास के फूल को दलित तथा सरसों को सुहागन आदि की संज्ञा से अभीष्ट कर उन्होंने

अपने और प्रकृति के बीच तादात्म्य स्थापन को ही प्रतिपादित किया है। निःसंदेह यह ग्रामीण लोक जीवन का प्रतिफल है। प्रकृति और मानव के ये सभी रूप-प्रतिरूप रंजना की कविताओं में व्याप्त स्थानीयता और लोकधर्मिता के भाव को ही स्पष्ट करते हैं। 'सुहागन सरसों' कविता में निहित सौंदर्य भाव अभिभूत करता है : "कितनी सुंदर लग रही हरी साड़ी पर पीली चुनर ओढ़े/ नववधू सरसों/ सजीले दूल्हे गेहूँ के साथ/ हवा शरारती सखी-सी/ बार-बार मिला देती है उन्हें/ खिल-खिल हँसती है सरसों/ झरते हैं पीले फूल/ सूरज-चाँद/ जुगुनू-तारे/ धरती-आकाश/ सभी दे रहे हैं आशीष/ 'चिर सुहागिन रहो सरसों रानी'।"[52] अथवा "आजकल अमलतास पूरा दादाजी लग रहा है।"[53] यह कोई छायावादी अथवा भाववादी उड़ान नहीं है, अपितु वर्तमान सामाजिक यथार्थ का ही अंग है जो निरंतर मानवीय चेतना से शून्य होता जा रहा है। प्रकृति के प्रति यह दृष्टि-बोध अब कवियों के लिए निषिद्ध क्षेत्र बनता जा रहा है। 'जलकुंभी' जैसे उपेक्षित पौधे के त्याग और समर्पण भाव को मानवी रूप देना तथा 'प्रेम में' आकाश को विभिन्न रंगों में बदलते देखना कवयित्री की सूक्ष्म दृष्टि का ही परिचायक है। सभी प्रमुख-अप्रमुख, अपेक्षित-उपेक्षित, रूपवान-कुरूप, फल-फूल-पेड़-पौधों आदि के साथ विभिन्न प्राकृतिक अंतर्ध्वनियों को कवयित्री ने स्वतंत्र व्यक्तित्व और स्वतंत्र वाणी दी है। 'घास के फूल', 'दूल्हा वसंत', 'बोनसाई', 'जलकुंभी', 'अमलतास', 'बसंत मालती', 'लीची का दुख', 'पुकार', 'सैलाब के बाद', 'सेमल', 'बारिश', 'मधु' आदि केवल प्रकृति के अंतःकरण के हर्ष-विषाद की ध्वनियाँ ही नहीं हैं बल्कि कवयित्री के अंतःकरण की अदम्य जिजीविषा की भी ध्वनियाँ हैं। स्त्री-कविता के इस स्वर को अभी और भी व्यापक होना है।

स्त्री-कविता में स्थानीयता के ब्यौरे का मुख्य कारण विस्थापन और पारिवारिक बंधन में बंधा जीवन है। विस्थापन का दंश सबसे अधिक स्त्री को ही झेलना पड़ता है; एक घर से दूसरा घर, एक शहर से दूसरे शहर अथवा एक परिवार से दूसरे परिवार –इसी धुरी में स्त्री के जीवन का अंत होता है। बचपन में पिता के घर और यौवन आते ही पति के घर के सुपुर्द कर दी जाती है।

अपने छोड़े हुए घर-परिवार-समाज की स्मृतियों में वह प्रायः सुरक्षित रहती हैं। अपने वर्तमान घर-परिवार में लंबे जीवन-बसर के बाद वहाँ हुए परिवर्तनों को वह अनायास ही अपनी स्मृति का हिस्सा बनाते चलती है। स्त्री-कविता में आगे जीवनानुभवों से यह साफ झलकता है कि बीते चार-पाँच दशकों में स्त्री के सामाजिक जीवन में आमूल बदलाव हुए हैं। स्त्री-कवियों के निजी ब्यौरे हों या उनके सार्वजनिक जीवन की परिस्थितियाँ/ गतिविधियाँ आदि सभी अलग ही अर्थ में खुलते हैं। स्त्री होने के कारण वे सभी घटनाएँ-परिस्थितियाँ तथा सामाजिक व्यवहार की परिणतियाँ आदि सामाजिक यथार्थ के पूर्वरूप को परिवर्तित करती है। गगन गिल, कात्यायनी, अनामिका, सविता सिंह, रंजना जायसवाल तथा अनीता वर्मा, रजनी तिलक, सुशीला टाकभौरे, निर्मला पुतुल आदि सभी कवयित्रियों के सामाजिक जीवन के ब्यौरे विषम होते हुए भी उनकी अन्याय गाथा के सूत्र लगभग एक जैसे ही हैं। स्त्री-देह के प्रति समाज की कुंठित भावना इसका एक मुख्य कारण है। लोकगीतों में वर्षों से हुए स्त्री के साथ अन्याय का स्वर निबद्ध है; ये गीत स्त्री के मानस में मौखिक परंपरा से आते रहे हैं। जब यह आर्तनाद कविता में उतरता है तब उसकी ऐतिहासिकता स्वतः सिद्ध हो जाती है। प्रत्येक कवयित्री की कविताओं में उनकी भाषा-बोली तथा लोक का छंद उभरकर आता है। स्त्री-कविता की एक महत्त्वपूर्ण स्वर अनीता वर्मा की कविताओं की लय भी अपनी वास्तविकता में इन सभी बिन्दुओं को संयोजित करती है। उनकी 'बूढ़ानाथ की औरतें', 'बचपन का घर (देवघर को याद करते हुए)', 'अस्पताल डायरी', 'अनिंदों दा के साथ' और 'झारखंड' आदि कविताएं विशेष पृष्ठभूमि में रची हुई जान पड़ती हैं। 'बूढ़ानाथ की औरतें' एक ओर स्थानीय वेश्याओं की उपेक्षित कथा को कहती है, वहीं दूसरी ओर 'बचपन का घर' कवयित्री के पूर्व आवास के दुर्दिन को दिखाता है। 'अनिंदों दा के साथ' और 'झारखंड' में बकायदा लोकधर्म का बड़ा रूपक बनता है। कवयित्री की स्मृतियाँ भी इतिहास के रूप में व्यक्त होती है। अपने अंचल 'झारखंड' के क्रांतिवीरों का स्मरण भी वे इसी फेहरिश्त में करती है। बिरसा मुंडा, अल्वर्ट एक्का, जतरा, बुधू भगत, सिद्दू कान्हू, तिलका मांझी

आदि कवयित्री की चेतना को पुनर्जीवित करते हैं। 'अनिंदों दा के साथ' कविता के दृश्य में जो इतिहास रूप लेता है वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है : "गाँव में चार महीने पहले से होता था जात्रा का अभ्यास/ दूर-दूर से इकट्ठे होते छोटे-बड़े सभी दालान पर/ अलग-अलग रिहर्सल होती, कहीं बघासुर वध/ कहीं छोटे बच्चों का नाच-गान/ दोपहर होते ही घंटी बजती और सभी एक पाँत में बैठकर खाते/ मोटे चावल का भात-दाल और आलू-पोस्ते की सब्जी/ अगले इतवार फिर सब तैयार/ तब कोई ब्रांड नहीं था/ सभी सस्ता पहनते मामूली खाना खाते/ एक-दूसरे का संग-साथ निभाते खुश रहते।"[54] यह वही सामूहिक भावबोध से निष्पन्न मानवीय सहानुभूति है जिसकी बात स्त्री-कविता बार-बार करती है। वैश्वीकरण-आधुनिकता और पूँजीवादी नीतियों ने सबसे पहले इसी पर प्रहार किया। इसे खंड-खंड कर जीते-जागते मनुष्य को ब्रांड की अंधी दौड़ में शामिल कर दिया। लोकधर्मिता, लोकमानस तथा लोकमत जैसी चीजें पीछे छूट गईं। लेकिन कवयित्री की स्मृतियों में यह अब भी सुरक्षित है।

स्त्री-कविता का महत्त्वपूर्ण एवं अभिनव स्वर दलित स्त्रीवाद की कविताएं और आदिवासी स्त्री-कविता का स्वर अपने सामाजिक अनुभवों की अभिव्यक्ति में विशिष्ट जान पड़ता है। दलित स्त्री-कवियों ने अपने लोकमानस में बसी यातनाओं को हू-ब-हू कविता में उतारने का प्रयत्न किया है। रजनी तिलक की कविताओं में उनके स्थानीय परिवेश दिल्ली की छवियाँ अंतर्ग्रथित हैं। दिल्ली की बड़ी-बड़ी घटनाओं का जिक्र भी यदाकदा कविता में आता है। निर्भया कांड पर भी कवयित्री की एक कविता 'बलात्कार' शीर्षक से है। अनामिका ने भी निर्भया कांड (निर्भया : उत्तर कांड) पर कविता लिखी है। रजनी तिलक ने उस बलात्कार के ही समानांतर पूरे देश में हुए इससे भी वीभत्स बलात्कारों की चर्चा करते हुए अपने समाज की महिलाओं को सचेत किया है। दिल्ली का वह दृश्य जब उस वीभत्स कांड पर पूरा देश उबल पड़ा था- "दामिनी बलात्कार पर/ कांप उठा पूरा भारत/ शर्मशार हुई पूरी मानवता/ अन्याय का प्रतिरोध करने/ निकल पड़ा युवकों का हुजूम/ भयभीत लड़कियाँ निर्भय हो/ उतर आईं सड़कों

पर।"[55] रजनी तिलक के लिए यह जन-जागरण किसी अभूतपूर्व क्रांति से कम नहीं। इसलिए उन्हें विश्वास होता है कि अब स्त्रियों के प्रति जातिगत हिंसा क्षम्य नहीं होगी। दलित, समाज की वह इकाई रहा है जिस पर दैहिक-मानसिक और भाषिक क्रूर हिंसा शास्त्रसम्मत मानी जाती थी ; मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में वर्णित स्त्री और दलित की स्थितियाँ बेहद अमानवीय और अनैतिक है। यह अमानवीय व्यवहार और मनोविकार वर्षों से समाज के लोक का हिस्सा रहा है, आज भी है। अतः स्त्री और दलित लेखन इसे सिरे से नकारता है और उसके घृणित-पोंगापंथी सोच पर चोट करता है। इसी तरह के पूर्वग्रह का शिकार आदिवासी समुदाय भी होता रहा है। उसके रहन-सहन-खान-पान-पोशाक आदि को घृणा की दृष्टि से देखा गया। समाज में उक्त समुदाय के प्रति अ-मानुष की भावना फैलाई गई। मुख्यधारा के तथाकथित शिक्षित-प्रबुद्ध समुदाय ने उन्हें बनवासी, जनजाति तथा ट्राइब कहकर उसे समाज से अलग ही रखा है। आदिवासी लेखन इन सभी अतिवादों को नकारते हुए इंसानियत की स्थापना करता है। वह अपने लोकतत्व एवं मानवीय गरिमा के सार को वैसे ही रखता है जैसे सामान्य मनुष्य अपने सांस्कृतिक इतिहास को रखता आया है। निर्मला पुतुल, ग्रेस कुजुर आदि कवयित्रियों की कविताओं में ऐसे ढेरों प्रमाण मिलते हैं जिनसे इस मनुष्यता का अंदाजा लगाया जा सकता है। अपने लोक और स्थानीय संस्कृति के सहारे ही आदिवासी साहित्य की नयी पहचान बनी है। आदिवासी स्त्री-कविता में यह परिदृश्य पूरी तरह खुलता नज़र आता है। निर्मला पुतुल की 'आदिवासी स्त्रियाँ', 'पहाड़ी स्त्रियाँ', 'पहाड़ी पुरुष', 'पहाड़ी बच्चा', 'पिलचू बूढ़ी से', 'अभी खूंटी में टाँगकर रख दो माँदल', 'सुगिया', 'झारखंड', 'माँझी-थान' आदि कविताओं में न केवल संथाल परगना की पूरी तस्वीर नज़र आती है बल्कि आदिवासी लोक-संस्कृति की मूल भावना प्रकट होती है। कवयित्री ने लोक-संवेदना के द्वारा काव्याभिव्यक्ति को इतना सरल और सहज बना दिया है वह सीधे-सीधे हृदय में प्रविष्ट होती है। यह सहजता ही लोक की ताकत है। आदिवासी लोक-संस्कृति और समाजशास्त्र की एक महीन रेखा निर्मला पुतुल की कविताओं में बन रही है। वह

अपनी निजी पीड़ा के साथ-साथ पूरी आदिवासियत को रचती है। 'पहाड़ी स्त्रियाँ', 'पहाड़ी पुरुष' और 'पहाड़ी बच्चा' कविता का एक-एक शब्द आदिवासियत को प्रतिध्वनित करता है; तीनों ही कविता में कवयित्री की स्थानीयता और लोकधर्मिता के तत्व पूरी संजीदगी से उभरते हैं। स्त्री-पुरुष-बच्चा तीनों ही पहाड़ी अस्मिता से सम्बद्ध हैं ; तीनों का एक-दूसरे से नाभिनाल संबंध है। पहाड़ ही उनके प्रेम और प्रतिरोध जताने का अवलम्ब बनता है। स्त्री-पुरुष और बच्चे की पारिवारिकता में पहाड़ भी समाहित है। यथा :

"चादर में बच्चे को

पीठ पर लटकाये

धान रोपती पहाड़ी स्त्री

रोप रही है अपना

पहाड़-सा दुख

सुख की एक लहलहाती फसल के लिए

पहाड़ तोड़ती, तोड़ रही है

पहाड़ी बन्दिश और वर्जनाएं"[56]

"पहाड़-सी देह/ पहाड़-सी छाती

पहाड़-सा रंग/ पहाड़ पर गुमसुम बैठे

पहाड़ी आदमी के चेहरे पर दिख रहा है

पहाड़ का भूगोल/ उसके भीतर चुप्पी साधे बैठा है

पहाड़ का इतिहास"[57]

"पहाड़ की गोद में

पहाड़ के छोटे-छोटे टुकड़ों-सा

खेलता है पहाड़ी बच्चा

... ...

पहाड़ी बच्चों के भीतर होता है

पूरा का पूरा पहाड़

और पहाड़ों की गोद में होता है

दौड़ता-भागता पहाड़ी बच्चा"[58]

प्रेम, प्रतिरोध और पारिवारिकता की गंभीर वाणी इन पंक्तियों में निहित आदिम लोक की सौंदर्याभिरुचि और आधुनिक भावबोध की रुक्षता दोनों एकसाथ प्रकट करती है। आदिवासी जीवन से उसकी विरासत को छीनने वाली विकासवादी नीतियों ने उनके जल-जंगल-जमीन को पूरी तरह विनष्ट कर दिया है। अतः कवयित्री नष्ट हो रही अपनी पारिवारिकता को—अपने लोक-संस्कार के साक्षी पहाड़-पर्वत-जंगल को देख दुख से भर उठती है। यह दुख व ध्वंशावशेष आदिवासी स्त्री के लिए और भी पीड़ादायी हो उठती है क्योंकि सृजन और संतान के अवबोध को उनसे बेहतर कोई नहीं समझ सकता। अतः मूक पहाड़, पेड़-पौधे, नदियाँ और पशु-पक्षियों के कलरव की आवाज बनती है आदिवासी स्त्री-कविता। निर्मला पुतुल की संथाल परगना हो या सम्पूर्ण प्रदेश के आदिवासी क्षेत्र की स्थिति ; सभी स्थानों पर यह स्वर अलग-अलग आदिवासी भाषाओं में आ रहे हैं। वहशी पौरुषिक खेल ; चाहे वह आदिवासी समाज के पुरुषों द्वारा हो या दिकुओं द्वारा कवयित्री निर्मला पुतुल दोनों ही के प्रति निर्मम हो उठती हैं। एक तरफ आदिवासी समाज की सम्मानित 'पिलचू बूढ़ी' हैं और दूसरी ओर उसी समाज में सामूहिक रूप में दैहिक-मानसिक रूप से अपने ही समाज में अपने ही लोगों द्वारा उत्पीड़ित सजोनी किस्कू, प्यारी हेम्ब्रम, सुबोधनी मराण्डी आदि स्त्रियाँ 'माँझी हाड़ाम', 'पराणिक', 'गुड़ित' ठेकेदार, महाजन और जान-गुरुओं के षड्यंत्र का शिकार बनाई गई है। अमानवीय दंड

विधान जिससे मनुष्यता भी शर्मशार होती रही। हल चलाने और फसल काटने के अपराध में सजोनी किस्कू को खूँटे में बाँधकर भूसा खिलाना हो, 'जातीय टोटम' के नाम पर प्यारी हेम्ब्रम को अपने ही पति द्वारा पाशविक बलात्कार और नाक-कान काटकर समाज से बहिष्कृत करना हो या सूदखोरों और ग्रामीण डॉक्टरों की लूट का विरोध करने वाली सुबोधिनी मराण्डी को उसी के पति द्वारा भरी पंचायत में डायन करार कर दण्डित करना आदि सभी आदिवासी लोक में विन्यस्त ऐसे भयानक आख्यान हैं जो अब स्त्री-कविता में ही खुलकर सामने आ रहे हैं। इस अमानवीयता-मगजहीनता के समक्ष शब्द भी अपना अर्थ खो देते हैं। केवल मौन ही उसकी वाचालता को दर्ज करता है और समय आने पर पूरी ताकत से उस व्यवस्था का खात्मा करता है।

iv. पुरुष वर्चस्ववाद, परिवार, विवाह और देह का सवाल :

हिंदी साहित्येतिहास की परंपरा में स्त्री-लेखन ने आरंभ से ही समाज की संरचनागत – आधारभूत विषमताओं पर चोट किया है। पुरुष समर्थक पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री के लिए बराबरी के स्तर पर कोई स्थान नहीं था। स्त्री-कविता में बहुधा पुरुष वर्चस्ववाद, प्रेम और स्त्री-देह से जुड़े सवालों के साथ ही परिवार, विवाह और यौनिकता आदि को लेकर भी स्त्री-कवियों ने मुखरता से अपनी बात रखी है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में इन स्वरूपों की व्याख्या एवं अवधारणा एकांगी ही नहीं पुरुषवादी प्रपत्तियों से विभूषित और एक हद तक स्त्री-विरोधी भी रही है। स्त्री रचनाकारों ने पुरुषवादी एकांगी नैतिकता को न सिर्फ चुनौती दी बल्कि उसके व्याभिचारी स्वरूप को आईना भी दिखाया है। हिंदी पट्टी में स्त्री-शिक्षा व स्त्री-चेतना का बीजवपन देर से हुआ लेकिन उसके विकास की गति ने जल्द ही जोर पकड़ लिया। इसलिए आधुनिक शिक्षा के प्रभाव में सतीप्रथा, बाल विवाह, डायन-दहन, विधवा विवाह अथवा उनके जीवन की समस्या, पर्दा प्रथा तथा बहुविवाह आदि कुरीतियों को समाज के लिए विध्वंसकारी समझा गया। स्त्री रचनाशीलता ने एक नयी स्त्री की स्थापना की, जो पुरुषवादी वर्चस्व को उन्हीं की नीतियों से मात दे सके। शिक्षा-रोजगार और संवैधानिक अधिकारों के साथ आर्थिक दौर की स्त्री-कवियों का संसार जिन किर्चियों-तिनकों और लताओं से बनता है उनमें इतिहास, आत्मकथ्य, स्त्री-देह का शोषण-दोहन तथा पारिवारिक बिछोह आदि का घुलामिला रूप ही छन कर आता है। इनमें स्त्री के प्रति इतनी आचार-संहिताएं लागू की गईं कि इनसे ऊपर उठ कर स्त्री के बारे में सोचना कठिन हो गया। इस क्रूरता को कई बार प्रेम व समर्पण का नाम भी दिया गया और अंततः पुरुषवर्चस्ववाद ने क्रूर प्रेम के सहारे स्त्री को उसकी देह व यौनिकता में कैद कर दिया। यथा : "देह नहीं होती है / एक दिन स्त्री / और / उलट-पुलट जाती है / सारी दुनिया / अचानक!"[59]

स्त्री रचनाशीलता अपने इतिहास के अवगाहन में इस कैद की पौरुषिक षड्यंत्र के महीन कणों को खोज निकालती है। इस खोजी वृत्ति में मिथ और इतिहास दोनों ही सहारा बनकर स्त्री-विमर्श को आधारशिला प्रदान करते हैं। स्त्री-कवियों ने अपनी यौनिकता को ; देह संबंधी राजनीति को पुरुषवादी चंगुल से निकालकर उसे पुनर्परिभाषित किया है। कविता हो या कथा साहित्य एक धारावाहिक रूप में स्त्री-रचनाकारों ने स्त्री-देह व यौनिकता केन्द्रित रचनाएँ लिख कर उस गुत्थी को सुलझाया है जिसे प्रायः पितृसत्ता ने रहस्य बना रखा था। आलोचक रेखा सेठी अपने लेख 'स्त्री-कविता : स्वप्न और सरोकार' में लिखती हैं "स्त्री-विमर्श की चर्चाओं में स्त्री ने अपनी यौनिकता को अपने तईं नए सिरे से पहचाना। नए युग की स्त्री ने बाहरी मानदंडों को नकार कर अपनी शर्तों पर जीवन जीने की जो पहल की उसमें ओढ़ी गई नैतिकता को अस्वीकार कर, देह की पवित्रता या यौन शुचिता के सवाल को नए दृष्टिबोध से प्रस्तुत किया।"[60] यह नया दृष्टिबोध ही स्त्री-कविता में देह संबंधी विमर्श को अलग से रेखांकित करता है। इस दृष्टिकोण से नौवें दशक के बाद से उभरी दो महत्त्वपूर्ण कवयित्री अनामिका और सविता सिंह की कविताएं विशिष्ट जान पड़ती हैं। हालांकि सभी स्त्री-कवियों ने देह-संबंधी आघातों को अपनी कविता में स्थान दिया है। प्रसंगवश यह बताना आवश्यक है कि स्त्री का शरीर ही उसके समस्त शोषण का मुख्य केंद्र रहा है। गगन गिल की कविताओं में भी बार-बार देह का जिक्र आया है और विस्तार रूप में आया है। अनामिका और सविता सिंह इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हैं कि उनकी कविताओं में देह अथवा यौनिकता के प्रति पुरुषवादी आग्रह अथवा भोंडा सेक्स प्रदर्शन नहीं है, अपितु वह अधिक सहज, प्राकृतिक और करुणा कलित है। सामान्य स्त्रियाँ हों या यौन दासियाँ आदि सभी की अपनी अस्तित्वगत पहचान को निरूपित करते हुए भी अनामिका उस भयावहता को दिखा जाती हैं जो पुरुषवादी क्रूरता मर्दवाद के दंभ में एक स्त्री की देह को, उसकी आत्मा को लहूलुहान कर जाती है : "एक गुफा है / मेरी नाभि के नीचे / अपनी ही खूंखारिता से थके / शेर-चीते-अजगर / आते हैं कुछ देर सोने यहाँ पर! / एक नए आखेट के

खातिर / जाते हैं जब अगले दिन बाहर, / उनके वे टूटे नाखून, / राल, केंचुल / एक अजब बहनापे से देखते हैं मुझे।"[61] **अथवा** 'चौदह बरस की कुछ सेक्स-वर्कर्स' की यह आह कि "अंकल तुम बहुत भारी हो!"[62] की पूरी मर्मांतक पीड़ा में घृणा अथवा पुरुष वर्ग से नफ़रत या देह या सेक्स का प्रदर्शन नहीं है, बल्कि उस मर्दवादी मानसिकता पर विक्षोभ है जो पुरुष की सारी शक्तियों का पुंज एक विशिष्ट अंग के प्रदर्शन में ही मानता है।

देह संबंधी दुराग्रहों पर यह चिंतन इसलिए भी आवश्यक हो जाता है क्योंकि यही स्त्री और पुरुष के सामाजीकरण को भी प्रभावित करता है। स्त्रियाँ जीवन भर जितनी भी गलाजते झेलती हैं उसका मुख्य कारण देह ही होता है और इसकी अनुभूति उसे बचपन से मृत्युपर्यंत बनी रहती है। सविता सिंह भी अपने चिंतन में जिस एक बात पर बार-बार रुकती हैं, वह देह संबंधी दुख ही है। समाज व शास्त्र प्रदत्त इस दुख को सविता सिंह अपनी कविताओं में ऊर्जा व शक्ति रूप में परिवर्तित कर पूरी संरचना को ही बदल देती हैं। बक़ौल रेखा सेठी "सविता सिंह की कविताओं में स्त्री का अपने देह से अनोखा रिश्ता है। पूरी आत्मीयता के साथ वह देह के घावों को धोकर, दुख के दाग मिटाकर उसे नए जीवन के लिए तैयार करती है। वह देह का निषेध न कर उसे स्वीकार करती है, उसे सहलाती है और उसमें सुखी होती हैं।"[63] देह के प्रति सहजता का यह भाव पूरी समकालीन स्त्री-कविता में मौजूद है। सविता सिंह की 'गरिमामय जीवन के लिए', 'जैसे एक स्त्री जानती है', 'ईश्वर और स्त्री', 'कामना उसे पाने की' और 'सच्ची कविता के लिए' आदि कविताएं देह के प्रति सहज-बोध व नवीन सौंदर्य-दृष्टि की ही कविताएं हैं जिनमें स्त्री-देह की प्राकृतिक अंतर्निहित शक्तियाँ भी स्त्रीत्व को नयी ऊर्जा से भर देती हैं : "वह सोचती रही लक़दक़ जीवन के सुनहरे रूप पर / एक दिन उसे लगा यह देह ही असल जड़ है / जीवन में हर गलाज़त की / और विश्व में व्याप्त हर खोखलेपन को जैसे / वह समझ गई / देर तक वह फिर प्रफुल्लचित्त रही।"[64] देह के प्रति यह बोध-अवबोध ही मुक्ति का असल प्रयाण है। यह इतिहाससिद्ध है जिसने भी इस बोध को ज्ञानात्मक स्तर पर अनुभूत कर लिया, वह समाज-शास्त्र

व मानव निर्मित सभी नियामकों से परे हो जाता है और एक नए मानव-मूल्य को प्रतिस्थापन करता है। मीरां, अंडाल, जनाबाई-सहजोबाई, लल्द्यद, अक्कमहादेवी आदि से लेकर सिल्विया प्लाथ, एमिली डिकंसन, मरीना त्स्वेतायेवा आदि विश्व प्रसिद्ध कवयित्रियों के जीवनानुभव से यह सहजता से ज्ञात हो जाता है। यही कारण है कि स्त्री-कविता में ये विभूतियाँ चाहे देश की हों या सात समंदर पार की, सभी बहनापा भाव से आ जुड़ती है जिससे स्त्री-कविता का एक वैश्विक-बोध निरंतर निर्मित हो रहा है।

देह से विदेह का यह हस्तांतरण भी पुरुषवर्चस्ववादी नीतियों के समक्ष एक प्रतिरोध है। गगन गिल की कविताओं में भी देह के प्रति ज्ञानात्मक बोध को बुद्धत्व केन्द्रित चेतना के अंतर्गत देखा जा सकता है। अनामिका और सविता सिंह दोनों ही कवयित्रियाँ ने अपनी कविताओं में स्त्री-देह एवं यौनिकता संबंधी सामाजिक पूर्वाग्रहों पर खुलकर लिखती-बोलती हैं ; किसी तरह का आवरण या पर्दादारी नहीं है यहाँ! देह और यौनिकता के प्रति वोकल होने का सुखद परिणाम यह हुआ कि स्त्रियों के साथ-साथ एक बड़ी आबादी की चेतना स्त्री संवर्ग के लिए बदलने लगी। यह स्त्री-संघर्ष के लिए बड़ी उपलब्धि है। शिक्षित घरानों से शिक्षा के लिए स्त्रियों का निकलना और अपनी आँखों से दुनिया देखने का सपना धीरे-धीरे साकार हो रहा था। इन सबके बावजूद देह के प्रति असुरक्षा का भाव बना रहा। आधुनिक चेतना ने वैज्ञानिक क्रांति के साथ ही यौन-हिंसा की नयी-नयी तकनीकों को जन्म दिया जिन्हें स्त्रियों के खिलाफ आज भी औज़ार की तरह इस्तेमाल किए जाते हैं। सविता सिंह की एक कविता 'जैसे एक स्त्री जानती है' में स्त्री-देह और यौनिकता को बाज़ार का उत्पाद या प्रदर्शन बनाने की पुरुषवादी नीतियों को देखा जा सकता है : "देह सुख की नदी है / सहस्त्रों वर्षों से पता है / उतने ही वर्षों से यह भी / कि दुख का खण्डहर है यह / प्लास्टिक का नया सिक्का तो अब बनाया गया है इसे।"[65] देह को प्लास्टिक का सिक्का अथवा प्रदर्शन बनाने की बाजारवादी नीतियों से निकलने के हथियार भी कवयित्री उसी से निकाल लेती है। कवयित्री का संकल्प भी देह के द्वारा देह से मुक्ति का बन

चला है। देह को देह से मुक्त करके जीवन पर पड़े आख़िरी पर्दे को वह उठा सकती है अर्थात जीवन की नयी सरणियों में प्रवेश पा सकती है ; यह स्वयं स्त्री से बेहतर कोई नहीं जान सकता।

गगन गिल के साथ ही नीलेश रघुवंशी, अनीता वर्मा आदि सभी कवयित्रियों में एक वैश्विक बोध उनकी कविता के मार्फ़त निर्मित हो रहा है। हिंदी कविता की परंपरा में यह वैश्विक बोध पहली बार स्त्री-कविता में ही रूप ले रहा है। अनामिका, सविता सिंह, कात्यायनी, नीलेश तथा अनीता वर्मा आदि सभी कवयित्रियों ने विश्व की प्रसिद्ध स्त्री-कवियों (सिल्विया प्लाथ, एमिली डिकंसन, एलेन सिक्सु, मरीना त्स्वेतायेवा आदि) के संघर्ष को अपने संघर्ष से जोड़ती है। उनकी काव्याभिव्यक्ति इन्हें अपनी काव्याभिव्यक्ति प्रतीत होती है।

स्त्री-कविता की वर्तमान परंपरा में देह विमर्श का अनुशीलन पुरुष-सत्ता के समक्ष एक प्रतिरोध के रूप में भी प्रकट होता है। स्त्री-देह के संबंध में जिन पूर्वग्रहों और हीनताग्रंथि का प्रचार पुरुषतंत्र ने किया, स्त्री-रचनाकारों ने उनपर पड़े पर्दे को शालीनता से उठाया है। सामाज में फैले स्त्री-देह संबंधी झूठी-अवैज्ञानिक-कल्पित तथा मनुवादी संस्कारों और स्त्री-देह पर पुरुष के एकाधिकार भावना आदि को स्त्री-कवियों ने अलग से नोटिस लिया है। देह की अपनी गरिमा का ख्याल भी स्त्री-कविता ने बड़ी शिद्दत से रखा है। देह से परे स्त्री की प्रज्ञा, आत्मज्ञान एवं भौतिक-सांसारिक अनुभवों के जरिए एक ऐसी चेतना विकसित करने का प्रयास है जो स्त्री-पुरुष के मध्य दैहिक स्तर पर एकात्म और अर्द्धनारीश्वर की भावना को जागृत करें। यह तभी संभव है जब वैश्विक मूल्यों-गुणों के वाहक स्त्री-पुरुष दोनों बनें। मानवता के शाश्वत मूल्य दया, करुणा, प्रेम, भ्रातृत्व, क्षमा आदि केवल स्त्री-धर्म ही नहीं बल्कि पुरुष भी इसका वरण उसी अधिकार भावना से करें जिसकी प्रत्याशा वह स्त्री वर्ग से करता है। वैश्विक मानवता का भाव इन सार्वभौम मूल्यों के हस्तांतरण से ही संभव है।

कविता के संदर्भ में सार्वभौम मूल्यों की चर्चा गगन गिल की कविता में प्रायः आती है। स्त्री-पुरुष से परे जिस आत्मन की बात गगन गिल अपनी कविताओं में बार-बार करती हैं, वह 'सोबार ऊपर मानवसत्त' ही है। वह मानती हैं कि स्त्री-देह किसी भी सच को जानने का औज़ार भर है। बावजूद इसके गगन गिल की कविताओं एवं लेखों में देह का जिक्र बहुतायत से हुआ है। कविताओं में देह स्त्री-अस्मिता का अभिन्न हिस्सा बनकर प्रस्तुत होता है। 'जिस एक काँटे से', 'अवसाद', 'देह की मुँडेर पर', 'इच्छा से मुँह फेर कर', 'वह अपने देह लौट जाएगी' और 'देह के भीतर' आदि कविताएं स्त्री-देह के अंतर्ग्रंथन व पुरुषवर्चस्ववादी उद्भूत दैहिक दरारों को एकसाथ व्यक्त करती है। देह एक मुँडेर की तरह पूरी पारिवारिक-सामाजिक गतिविधियों की गवाह बनती रही है। इसलिए इसके घाव भी अधिक पीड़ादायी है। वह 'अवसाद' बनकर मन को कचोटता है : "कौन-सा यह देश है / देह का? / ठिठुर रहे हैं उसके चित्रगुप्त / नंगी टहनियों में / इस रात / दूर तक / बर्फ में / कहीं नहीं / कोई / बूँद-भर / सन्नाटा टप-टप / टपक रहा है / काँच की आँख से।"[66] देह से अधिक विदेह की पीड़ा का यह राग प्रकारांतर से स्त्री के सामाजिक बिछोह से ही जुड़ता है। गगन गिल की एक अलग छंद में रचित कविताओं का संग्रह 'थपक थपक दिल थपक थपक' में भी देह की यातना के विभिन्न स्वरों को सुना जा सकता है।

स्त्री-कविता अपनी देहरी को भी देश के समान ही देखती आई है। अपितु देहरी ही नहीं, देह भी देश का पर्याय बनता है और देह का दुख देश के दुख के रूप में व्यक्त होता है। स्त्री की अपनी देह और यौनिकता के प्रति सचेतनता ही उन्हें आधुनिक भावबोध से जोड़ती है। यह आधुनिक भाव-बोध ही समाज में 'जेंडर संवेदनशीलता' की वकालत बार-बार करता है। स्त्री को उसकी संपूर्णता में जानने-समझने के लिए आवश्यक है कि उसकी मानवीय अर्थवत्ता को लैंगिक पूर्वग्रहों से मुक्त किया जाए। इक्कीसवीं सदी हाशिए का केंद्र की ओर कूच करने की सदी है। अतः परिवर्तनकामी चेतना इस युग की मूल इयत्ता है। देह व यौनिकता के जरिए स्त्री की समस्त बौद्धिकता एवं चिंतन को दुष्प्रभावी मानने वाली पितृसत्ता स्त्री की रचनाशीलता को

भी उसी सीमित दायरे में रख कर मूल्यांकन करता रहा है। स्त्री का रचना-संसार ही नहीं, कर्म-संसार भी पुरुषतांत्रिक माहौल में मर्दवादी फब्तियों से उसका जीना दूभर कर देता है। स्त्री की स्वाधीनता के स्वप्न और आजाद ख्यालों को पुंसवादी समाज सहन नहीं कर पाता। कात्यायनी, शुभा, अनीता वर्मा, नीलेश रघुवंशी आदि कवयित्रियों ने बार-बार उस हिंसानुमा समय को—उसके पहरेदारों—चौकीदारों की ओर इशारा किया है। दैहिक-हिंसा चाहे वह शारीरिक हो या भाषिक, स्त्री-कवियों ने उन्हीं प्रचलित मुहावरों द्वारा उनका प्रतिरोध किया है। स्त्री की स्वतंत्र आकांक्षा और उसके जीवन की उपलब्धियां आदि अनायास ही समाज के लिए संदेह उत्पन्न करती है। अनीता वर्मा की 'दोष' शीर्षक कविता समाज की उस मानसिकता को उजागर करती है जो स्त्री के पैदा होने से लेकर मृत्युपर्यंत तक उसमें दोष ही देखती है। जैसे दोष ही स्त्री जीवन का पर्याय हो! यथा : "जब मैं पैदा हुई तो मुझमें दोष था / क्योंकि मैं लड़की थी / जब थोड़ी बड़ी हुई तब भी दोषी रही / क्योंकि मेरी बुद्धि लड़कों से ज़्यादा थी / थोड़ी और बड़ी हुई तो दोष भी बड़ा हुआ / क्योंकि मैं सुंदर थी और लोग मुझे सराहते थे / और बड़ी होने पर मेरे दोष अलग थे / क्योंकि मैंने गलत का विरोध किया / बूढ़ी होने पर भी मैं दोषी बनी रही / क्योंकि मेरी इच्छाएं ख़त्म नहीं हुई थीं / मरने पर भी मैं दोषी रही / क्योंकि इन सबके कारण असंभव थी मेरी मुक्ति।"[67] जीवन का यह क्रम 'दोष' नहीं, अपितु दोष-मुक्ति का उपक्रम है। बौद्धिक चेतना से सम्पन्न और स्त्री की पारंपरिक सामाजिक भूमिका पर प्रश्न उठाने वाली स्त्रियों को इतिहास व सत्ता ने हमेशा से शापित/ दंडित किया है। वह एक कदम भी पितृसत्ता के उसूलों के खिलाफ़ रखें नहीं कि तथाकथित धर्म-परंपरा-संस्कृति की जड़ें हिलने लगती हैं। अतः इसीलिए कवयित्री मुक्ति का प्रयाण उन्हीं रास्तों पर ठहरकर करती है। मुक्ति उक्त सत्ता के सम्मुख सत्ता-व्यवस्था का प्रतिरोध करके ही पायी जा सकती है। कवयित्री ने स्पष्टतः यह दिखाया है कि कैसे समाज इन दोषों को स्त्री-व्यक्तित्व के साथ जन्म से मृत्यु तक सन्नद्ध करके एक स्त्री को गढ़ता है जो हर चरण पर उसकी अनुगामिनी व गुलाम बनी रहे।

देह संबंधी ऐसे ढेरों वर्जनाएं स्त्री-कविता में व्याप्त है। लेकिन नौवें दशक के बाद की कविताओं ने इसे वैज्ञानिक धरातल पर समझने का प्रयास किया है। आश्चर्य नहीं कि प्रत्येक वर्ष दैहिक हिंसा के आकड़ों में बढ़ोत्तरी ही हुई है। बलात्कार, हत्या, गैंगरेप, दहेज-दहन, डायन-दहन, भ्रूण-हत्या आदि के साथ यांत्रिक रूप से स्त्री-देह का दुरुपयोग आदि घटनाओं से यह दौर पटा पड़ा है। मानव-सभ्यता के इस दौर ने जहां एक ओर स्त्री के लिए अवसर के बंद राहों को खोले हैं, वहीं दूसरी ओर स्त्री के ऊपर हुए हमलों ने मानवीयता को ही संदेह के घेरे में ला खड़ा किया है। स्त्री अपनी आत्मानुभूत पीड़ा एवं भयावहता को जैसे अलंकरण की भांति झेलती आगे बढ़ रही है। कवयित्रियों ने भी इस बेरहम क्रूरता को आदर्श के बजाय उसी क्रूर भाषा में ज्यों का त्यों रखा है। शुभा की 'गैंगरेप', 'आदमखोर' तथा 'उत्सव के बाहर' आदि कविताओं को इसी संदर्भ में देखने की आवश्यकता है। शुभा ने अपने समय की दहशत – सफेदपोश नौकरशाहों के अपराधवृत्ति की नीतियों तथा पौरुषपूर्ण समय में चल रही स्त्री के खिलाफ षड्यंत्र तथा सचेत स्त्री की इन सबके प्रति उदासीनता का भाव आदि सभी मुद्दों को एकबारगी सामने रखती है। स्त्री-हिंसा की संस्कृति के प्रति स्त्री-वर्ग का चुप बैठना, सड़कों पर न निकलना भी इन अपराधियों की ताकत बनता है। हाल ही में हुए मीटू (Me too) और सबरीमाला कांड ने पूरे देश में मर्दवाद के दंभी स्वरूप को सकते में डाल दिया था।

शुभा स्त्री की चुप्पी को तोड़ते व उसे एक जिंदा, दहकती आवाज़ में तब्दील होते देखना चाहती हैं। वह उस तंत्र के खिलाफ एक प्रतिपक्ष तैयार करना चाहती हैं जो स्त्री व्यक्तित्व को संपूर्णता में देखने के बजाय उसके खंडित अंगों में उसकी पहचान को नष्ट करता है। किसी व्यक्ति की अस्मिता व व्यक्तित्व को नष्ट करने के लिए उसकी पहचान को संपूर्णता में न कर उसके अलग-अलग अंगों में – जाति, वर्ग, तथा नस्ल आदि में बाँट देना काफी होता है। यह आदमखोरी वृत्ति स्त्री-व्यक्तित्व को आँख-कान-नाक, छाती, कमर तथा जांघ आदि के बाजारू माप में बदल देता है। स्त्री-देह के प्रति यह घोर हिंसा इस कदर चमत्कृत किया जाता है कि वह

स्त्रियों को भी आकर्षित करने लगती है। इस पुरुषवादी – आदमखोरी वृत्ति को शुभा ने बेहद गंभीरता से समझा है। वे इसे हिंसा करार देते हुए इसके नियंता को 'आदमखोर' कहती हैं : "एक स्त्री बात करने की कोशिश कर रही है / तुम उसका चेहरा अलग कर देते हो धड़ से / तुम उसकी छतियाँ अलग कर देते हो / तुम उसकी जांघे अलग कर देते हो / तुम एकांत में करते हो आहार / आदमखोर! तुम इसे हिंसा नहीं मानते।"[68] इस भयानक हिंसा का बोध प्रायः पुरुषवादी विचार से संचालित स्त्रियों को नहीं होता जो भ्रमवश अपने रूप और यौवन को अपना अंतिम हथियार मानती है। पितृसत्ता की यह खौफनाक नीति बाज़ार – उद्योग व ग्लैमर संस्कृति में ख़ूब फलफूल रही है। स्त्री-देह को उसके विभिन्न अंगों में खंडित कर उसे सौंदर्य के अलग-अलग पैमानों पर फिट करना स्त्री को प्रदर्शन – पण्य सामग्री में ही बदलना है। कवयित्री शुभा का कवि-मन इस रीति पर अपनी असहमति प्रकट करता है। इसी तरह 'गैंगरेप' कविता में भी कवयित्री ने पुरुषवर्चस्ववाद की आपराधिक वृत्ति तथा खुलेआम लिंग प्रदर्शन की विभीषिका को दर्ज़ किया है। स्त्री-देह संबंधी इन व्याघातों के साथ ही इसके बाद की स्थितियों का अंकन भी हमारा ध्यान खींचता है। बलात्कृत और यौन-हिंसा से पीड़ित स्त्रियों की मनःस्थिति एवं उसके समानांतर उसकी इस अवस्था पर समाज की मानसिकता को भी स्त्री-कविता में जीवंत अभिव्यक्ति मिली है। हत्या-बलात्कार, अपराध के बाद अपराधी से घृणा करने के बजाय पीड़िता से ही दोहरा व्यवहार समाज की पुरुषवादी मानसिकता का ही प्रतिफल है। स्त्री-कविता ने इस बलपूर्वक देह-घर्षण को इज्ज़त-आबरू से जोड़ने वाली मानसिकता पर बार-बार प्रहार किया है।

अनामिका, सविता सिंह, रंजना जायसवाल सरीखे कवयित्रियाँ इस मानसिकता से स्त्री-समाज को उबरने की मौलिक सीख देती हैं। अनामिका जहां इस संदर्भ में मिथकीय चरित्र देवी सरस्वती (जो अपने ही पिता तुल्य ब्रम्हा से दैहिक शोषण का शिकार होती हैं लेकिन वह अपने जीवन को उस दुर्घटना से न सिर्फ उबारती हैं बल्कि स्वयं को प्रतिष्ठित भी करती हैं ; इसलिए वह आज पूजी जाती हैं जबकि ब्रम्हा का अपराध, अपराध बनता है) का उदाहरण देती है। वहीं

दूसरी ओर रंजना जायसवाल 'टरटल्स फ़्लाई फिल्म और एक स्त्री प्रश्न' कविता में स्त्री-जीवन के एक बड़े प्रश्न को उठाती हैं। कवयित्री का प्रश्न एक बड़े नेरेटिव को सामने रखता है "स्त्री क्यों नहीं जीना चाहती / देह के अपवित्र किए जाने के बाद / क्या बड़ी होती है ज़िंदगी से देह / स्त्री मानती ही क्यों है खुद को / सिर्फ देह।"[69] देह को पवित्रता-अपवित्रता के साँचे में ढालना पितृसत्ताक की वर्चस्व नीति का हिस्सा है। जीवन से बढ़कर देह की कामना बेबुनियाद और मनुष्य विरोधी है। अतः उस मानसिकता से निकलकर ही जीवन को संपूर्णता में समझा जा सकता है। देह से मुक्त होकर जीवन को अर्थ प्रदान करना ही पितृसत्ता की हार होगी। देवी सरस्वती इसी चरित्र को प्रामाणित करती हैं। बतर्ज अनामिका इस क्षेत्र में सरस्वती आदर्श हो सकती हैं।

निर्मला पुतुल और रजनी तिलक सरीखी कवयित्रियों ने भी देह के दंश को जिस रूप में अभिव्यक्त किया है, वह भी समाज में पौरुषिक क्रूरता को ही दर्शाता है। स्त्रियाँ, तथाकथित उच्चवर्ग की हों या निम्नवर्ग अथवा आदिवासी समुदाय की; सभी का दैहिक शोषण उसी क्रूरता से होता है। शोषण का स्वरूप व स्थान-परिवर्तन होने पर भी उसकी भयावहता कम नहीं होती है। अपने एक साक्षात्कार में निर्मला पुतुल पूरी बेबाकी से कहती हैं कि – "स्त्री तो स्त्री होती है चाहे वह आदिवासी स्त्री हो या फिर अन्य सभ्य समाज की स्त्रियाँ हों, यहाँ फ़र्क सिर्फ़ इतना है कि सभ्य समाज की स्त्रियाँ घर पर यानी रसोई घर और बेडरूम में प्रताड़ित होती हैं और आदिवासी स्त्रियाँ बीच सड़क पर पीटती हैं।"[70]

आदिवासी स्त्रियों को सदैव हीन दृष्टि से देखा गया या उससे भी अधिक उन्हें कामुक-दृष्टि का शिकार होना पड़ा। तथाकथित सभ्य समाज व साहित्य में भी आदिवासी स्त्रियों के संदर्भ में पूर्वग्रह व्याप्त है। आदिवासी समाज के पुरुष हो या गैर आदिवासी पुरुष ; दोनों ही वर्गों ने आदिवासी स्त्री को दैहिक – मानसिक प्रताड़णा के इतने घाव दिए हैं कि उनकी कलमें उन पीड़ाओं को लिखते थम-सी जाती हैं। निर्मला पुतुल ही नहीं बल्कि सभी आदिवासी स्त्री-कवि

बलात्कार और दैहिक हिंसा को बार-बार उद्धृत करती हैं क्योंकि उस दंश और नफरत को भी वह बार-बार झेल रही होती है। आदिवासी स्त्रियों को प्रदर्शन के नाम पर उन्हें अपमानित किया जाता है। उनके काले रंग से नफरत किया जाता है लेकिन अँधेरे में, मौका मिलते ही उनकी गदराई देह को नोचा-खसोटा जाता है। नस्लभेद तथा रंगभेद की अमानवीय पीड़ा आदिवासी स्त्रियों को आज भी झेलना पड़ता है। 'संथाल परगना', 'किसी से कहा नहीं हमने' और 'सुगिया' आदि दर्जनों कविताओं में निर्मला पुतुल ने दैहिक प्रताड़णा और हिंसा के दहशत को शब्दबद्ध किया है। सभ्य समाज के दोहरे चरित्र को दिखाते हुए 'संथाल परगना' कविता में कवयित्री कहती है "... वे घृणा करते हैं हमसे / हमारे कालेपन से / हँसते हैं, व्यंग्य करते हैं हम पर / हमारे अनगढ़पन पर कसते हैं फब्तियाँ... ... मेरा सब कुछ अप्रिय है उनकी नजर में / प्रिय है तो बस / मेरे पसीने से पुष्ट हुए अनाज के दाने / जंगल के फूल फल, लकड़ियाँ / खेतों में उगी सब्जियाँ / घर की मुर्गियाँ / उन्हें प्रिय है / मेरी गदराई देह / मेरा माँस प्रिय है उन्हें!"[71] स्त्री को देह से अधिक कुछ न समझे जाने की पीड़ा बड़ी पीड़ा है। निर्मला पुतुल आदिवासी जीवन-संघर्ष के बीच निरंतर अपनी पहचान खोती आदिवासी स्त्री के अंतरंग भावों को सहजता से रच रही हैं। उनमें सौन्दर्य के नए लोक-आलोक के साथ ही जन-जीवन की मिलीजुली संस्कृति का वैभव भी है। समाज में उपेक्षा भाव झेलने के बावजूद वे अपनी अस्मिता को आदिवासियत से जोड़े रखने में गर्व का अनुभव करती हैं। अपनी आदिवासी अस्मिता ही उन्हें विकट परिस्थितियों में संघर्ष करने की ताकत देती है। आधुनिकता की प्रचंड आँधी ने उनके सांस्कृतिक बोध – उनके अपनी आदिवासी ऐतिहासिक चेतना को छुआ तक नहीं। सम्पूर्ण आदिवासी लेखन की यह सबसे बड़ी ताकत है जो आज इस अविवेकी वातावरण में उन्हें अपनी जड़ों से जोड़े रखती है।

दलित स्त्रीवाद की प्रमुख हस्ताक्षर रजनी तिलक ने भी अपनी कविताओं में देह संबंधी संत्रास को प्रमुखता से अभिव्यक्त किया है। स्त्री को उसकी देह में ही सन्नद्ध रखने की पुरुषवादी राजनीति ने पूरे स्त्री वर्ग को ही मनुष्यता की गरिमा से वंचित रखा। रजनी तिलक, सुशीला

टाकभौरे तथा रजत रानी 'मीनू' आदि की कविताओं में जिस सामाजिक असमानता को स्त्रियाँ झेलती हैं वह पीड़ादायी होने के साथ ही समाज को पीछे धकेलने का काम कर रही हैं। रजनी तिलक के सामाजिक-राजनैतिक अनुभवों से निःसृत आवाज उस क्रूरता को भी सामने रखती है जो आते-जाते प्रत्येक पुरुष की आँखों में उन्हें दिखती है। बाजार, सड़क आदि स्थानों पर घूमती-काम करती स्त्री किसी भी पुरुष की नज़र में एक देह भर ही होती है। सदियों की दैहिक-मानसिक प्रताड़णा के बावजूद सभी स्त्रियाँ शोषण का विरोध नहीं कर पाती हैं। वह उस भेड़ की तरह बनी रहती हैं जो दूसरों के लिए अपनी देह पर खाल ओढ़े रहती हैं। महज जिस्म बनकर चेतनशून्य बने रहना और अन्याय को सहना भी हमारे देश की अधिकांश महिलाओं की नियति है। 'औरत' शीर्षक कविता में रजनी तिलक ने उसी औरत की स्थिति को कविता में बांधने का प्रयास किया है : "औरत / एक जिस्म होती है / रात की नीरवता / बंद खामोश कमरे में / उपभोग की वस्तु होती है / खुले नीले आकाश तले / हर सुबह / वो रुह समेत दीखती है / पर डोर होती है / किसी आका के हाथों / जिस्म वो खुद ढोये फिरती है।"[72] यह 'आका' ही पुरुषवर्चस्ववादी सत्ता का प्रतिनिधि है जिसे बचपन से विशिष्टता का बोध कराया जाता है। स्त्री को उपभोग की वस्तु अथवा जिस्म मात्र समझने वाली मानसिकता का प्रतिरोध आधुनिक स्त्री करती है। एक सांगठनिक प्रतिरोध की मुकम्मल तस्वीर हेतु स्त्री-कवियों ने बहनापा भाव जैसे एक नवीन रस की स्थापना की है। बहनापा भाव से न केवल देश-प्रदेश की स्त्रियाँ से वह जुड़ती हैं, बल्कि पूरे विश्व की स्त्रियों को अपनी विरासत समझती हैं। रजनी तिलक की एक दूसरी कविता में 'योनि है क्या औरत?' में कवयित्री ने इसी बहनापे भाव से पुरुषवर्चस्ववादी कामुक दृष्टि की आलोचना करती है। यथा : "हर स्त्री मर्द के लिए / एक योनि ... / एक जोड़ी स्तन... / लरजते होंठ हैं! / बहनापा वाली बहनों ने / मर्दों को धिक्कारा / उन्हें चेताया और कहा / योनि! स्तन! होंठ... / सब हमारे व्यक्तिगत हैं / हमारा शरीर हमारा है।"[73] पितृसत्ताक की उस कामुक-दृष्टि के समानांतर स्त्री-कविता का यह धिक्कार और चेतनशीलता ही स्त्री-कविता की अपनी जमीन है। 'हमारा

शरीर हमारा है' का उद्घोष भी कोई अतिवादी उद्घोष न होकर, अपने स्वाभिमान की रक्षा हेतु उस शोषण की परंपरा से स्वयं को अलगाने का ही उपक्रम है। इस स्वाभिमान तथा आत्मसम्मान के भाव को जगाने में बहनापा भाव व विचार का अहम योगदान है।

v. पुरुष कविता में स्त्री स्वर :

नौवें दशक के उत्तरार्द्ध में हिंदी के पुरुष कवियों में स्त्री के प्रति कुछ ऐसा नज़रिया बनने लगा था जो समय और काल के साथ-साथ अब तक चले आ रहे स्त्री के प्रति स्वानुभूति भाव का अतिक्रमण करते हुए पितृसत्ता को सीधे संबोधित होते दिखता है और यह भाव अनवरत जारी है जो साहित्य की समाहार शक्ति और संवेदनशीलता को अधिक समावेशी बनाता है। यह इसी अर्थ में महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय है। नौवें दशक में सक्रिय नक्सलवाद और वामपंथ की राजनीति में वैचारिक समर्थन देने वाले कवियों- गोरख पाण्डेय, आलोक धन्वा, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, अदम गोंडवी, बल्ली सिंह चीमा, कुमार विकल, पंकज सिंह, मंगलेश डबराल आदि की कविताओं से यह सफर शुरू होता है। केदारनाथ सिंह, अरुण कमल, विनोद कुमार शुक्ल, अशोक वाजपेयी, चन्द्रकान्त देवताले, भगवत रावत, ज्ञानेन्द्रपति, लीलाधर मंडलोई, राजेश जोशी, वीरेन डंगवाल, कुमार अंबुज, पवन करण, मदन कश्यप, उदय प्रकाश, जितेन्द्र श्रीवास्तव आदि कवियों ने स्त्री के प्रति अपनी भावनाओं को वह रूप दिया जिसकी लड़ाई स्त्री अपने लिए लड़ रही है। पितृसत्ता को चुनौती देते हुए इन कवियों ने सहानुभूति से ऊपर उठकर उन्हें अपने साथी के रूप में देखा समझा और कविता में अभिव्यक्त किया। अपने भीतर स्थित स्त्री की काया को विस्तार रूप देते हुए अधिकांश कवि पुरुषवादी वृत्तियों को तोड़ते हुए स्त्री-दृष्टि से स्त्री-जीवन की व्यथा-कथा को कहने की कोशिश करते हैं जिसे हम चाहे तो स्त्रीवादी कविता कह सकते हैं।

आलोक धन्वा द्वारा रचित 'दुनिया रोज बनती है' कविता संग्रह सन् 1995 में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह की अधिकांश चर्चित कविताएं इससे पूर्व विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी थीं। 'भागी हुई लड़कियां', ब्रुनो की बेटियाँ', 'छतों पर लड़कियां', 'मैटिनी शो' आदि कविताएं तथाकथित सुसभ्य परिवार-समाज में व्याप्त पुरुषवादी ग्रंथियों का शांत लेकिन हिंसक रूप जिसे प्रथम द्रष्ट्या पहचानना मुश्किल होता है, को ध्वनित करता है। विगत दो-तीन दशकों

में स्त्रीवादी पुरुष विचारक स्त्रियों के अधिकार व सम्मान के लिए जो दिखावटी लड़ाई लड़ रहे थे ; क्या वे अपने घर-परिवार, दफ़्तर आदि में कार्यरत स्त्रियों के प्रति वही व्यवहार अपनाते हैं जो वह बाहर बोलते-पढ़ते हैं या भाषण देते हैं? इस बात में कोई दो राय नहीं कि अधिकांश पुरुष स्त्रियों को विशिष्ट रीति में ही देखना चाहते हैं। पुरुषों में प्रदत्त बचपन से मर्दवादी संस्कार उसे स्त्रियों के आगे झुकने में, उदारता दिखाने में स्वयं को अपमानित महसूस कराता है। शिक्षित-अशिक्षित, सभ्य-असभ्य आदि सभी इस फेहरिश्त में शामिल है। आलोक धन्वा की कविता पुरुष के भीतर पैठी इन दुर्बलताओं को व्यक्त करती है। जरूरी नहीं कि कथित तौर पर स्त्री के प्रति संवेदनशील पुरुष अपने घर-परिवार की स्त्रियों के साथ या वास्तविक अर्थों में संवेदनशील हो। इस बारीकी को समझना मुश्किल है : "...तुम / जो / पत्नियों को अलग रखते हो / वेश्याओं से / और प्रेमिकाओं को अलग रखते हो / पत्नियों से / कितना आतंकित होते हो / जब स्त्री बेखौफ भटकती है / ढूंढ़ती हुई अपना व्यक्तित्व / एक ही साथ / वेश्याओं और पत्नियों / और प्रेमिकाओं में!"[74] पितृसत्ता की संरचना में सन्नद्ध स्त्री की इन छवियों को कवि ने जैसे जगा दिया हो। स्त्री इन भूमिकाओं की जंजीरों को तोड़ती हुई जब अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व को निहारती है तो वह निष्कलुष भाव से पितृसत्ता की क्रूरनीति को जान जाती है। यह कविता हिंदी कविता के इतिहास में बलाघात है। आशुतोष कुमार कवयित्री शुभा की कविताओं पर एक लेख ('स्त्री-कविता का सामाजिक स्वर और शुभा की कविताएं') लिखते हुए 'इसे हिंदी कविता के इतिहास में एक मील का पत्थर' कहते हैं। हिंदी में पितृसत्ता को सीधे निशाने पर लेने वाली ' स्त्रीवादी कविता'। इनका मानना है कि हिंदी में स्त्रीवादी कविताओं की जमीन तैयार करने में 'भागी हुई लड़कियां', 'ब्रुनो की बेटियाँ' आदि कविताओं का अहम योगदान है। उक्त कविता के संदर्भ में वे लिखते हैं कि "यह कविता सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है कि एक पुरुष स्त्री को कितनी सहानुभूति दे सकता है और उसके साथ कितनी समानुभूति महसूस कर सकता है। लेकिन यह उस सीमा का उदाहरण भी है, जिसके आगे पुरुष शायद नहीं जा सकता। ... ... पत्नी, प्रेमिका, वेश्या- पुरुष

प्रसंग में स्त्री की यही तीन भूमिकाएं समाज ने तय की हैं। इन तीनों को ठुकराकर आलोक धन्वा की स्त्री अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व हासिल करने के लिए भटकती है, लेकिन उसके पास इन्हीं तीन भूमिकाओं को एक में मिला देने से अधिक रचनात्मक कोई और उपाय नहीं है। कवि उत्पीड़ित स्त्री को मुक्त तो देखना चाहता है, लेकिन उसके पास मुक्त स्त्री की कोई स्वतंत्र कल्पना नहीं है।"[75] आलोक धन्वा की इन्हीं चिंताओं को स्त्रीवादी कवयित्रियों ने फलीभूत किया है। मुक्त स्त्री की छवि, मुक्ति किससे और क्यों अथवा स्वतंत्र व्यक्तित्व की आकांक्षा लिए स्त्री की मनःस्थिति आदि सभी राग-रंजित भाव समकालीन स्त्री-कवियों की मुख्य प्रवृत्ति है।

गोरख पाण्डेय अपनी कविताओं में स्त्री-छवि को क्रान्ति की उद्‌द्याम चेतना से भर देते हैं। स्त्री के विभिन्न पारिवारिक रिश्तों की बनिस्बत एक नागरिक रूप में प्रतिष्ठित करना और अन्याय-असमानता के खिलाफ उठ रही आवाज़ को नेतृत्व देना आदि गोरख पाण्डेय की स्त्री-विषयक चिंतन की विशिष्टता है। अपनी बदहाल स्थिति से उबरने का एकमात्र रास्ता प्रतिरोध ही है। उनकी अधिकांश कविताओं में स्त्री की दुरावस्था के चित्र हैं लेकिन उन स्थितियों से उबरने की युक्ति भी वे उसी से निकालती है। प्रगतिशील चेतना से उद्भूत गोरख पाण्डेय की कविता की स्त्री वर्ग-संघर्ष के साथ-साथ आत्म-संघर्ष से भी गुजरती है। 'कैथर कला की औरतें', 'खून की नदी', 'बंद खिड़कियों से टकराकर', 'भूखी चिड़ियाँ की कहानी', 'आँखें देखकर', 'सात सुरों में पुकारता है प्यार', 'तुम जहां कहीं भी हो', 'भूख आदिवासी', 'कलकत्ता-1971' आदि कविताएं आत्मसंघर्ष से जनसंघर्ष की कविताएं हैं। यहाँ स्त्रियाँ शोषण, विषमता, अन्याय का प्रतिकार अलग ढंग से करती हैं। 'सात सूरों में पुकारता है प्यार' और 'कैथर कला की औरतें' दो महत्त्वपूर्ण कविताएं हैं जिनमें स्त्री अस्मिता के गठन को देखा जा सकता है। स्वयं को कठपुतली या खिलौना बनने से रोकने वाली 'सात सुरों में पुकारता है प्यार' की स्त्री अपनी माँ से कहती हैं "...तुमने बहुत सहा है / तुमने जाना है किस तरह / स्त्री का कलेजा पत्थर हो जाता है / स्त्री पत्थर हो जाती है / महल अटारी में / सजाने के लायक / मैं हाड़-मांस की / स्त्री / नहीं

हो पाऊँगी पत्थर / न ही माल-असबाब / तुम डोली सजा देना / उसमें काठ की पुतली रख देना / उसे चुनर भी ओढा देना / और उनसे कहना - / लो, यह रही तुम्हारी दुल्हन / मैं तो जोगी के साथ ही जाऊँगी माँ।"[76] प्रेम के प्रति यह उन्मुक्त भाव पुरुषवादी खोल से आजाद होने का भाव है। दूल्हे के हाथों माल-असबाब कहलाने की तुलना में जोगी के साथ जाने की इच्छा, उसकी स्वतंत्रता का द्योतक है। स्त्री को महज अटारी या सौंदर्य प्रसाधन की तरह उपभोग करने वाली सत्ता उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व को कभी बर्दाश्त नहीं कर पाती इसलिए उसके लिए 'काठ की पुतली' का विधान किया गया है। पितृसत्तात्मक व्यवस्था स्त्री को 'काठ की पुतली' ही समझती है।

अरुण कमल की कविताओं में स्त्री के श्रम और संवेदना को एक अलग नैरेटिव मिला है। उनकी 'डेली पेसेंजर', 'कल्याणी', 'नवजात बच्ची को प्यार', 'संबंध' आदि कविताओं में स्त्री के आभ्यंतर स्वरूप को कवि ने पूरी आत्मीयता प्रदान की है। 'डेली पेसेंजर' की थकी कामगार औरत हो या निस्वार्थ भाव से घर का सारा काम करने वाली, कुछ न बोलने वाली 'कल्याणी' अथवा 'संबंध' कविता की वह स्त्री जिसके रिश्ते को किस नाम से नवाजा जाए कि उस संबंध की मार्मिकता जीवनपर्यंत बनी रहें। अरुण कमल की दृष्टि की नवीनता का ही परिणाम है कि वे स्त्री-संसार में प्रवेश पाने के लिए पुरुष या अतिपुरुष नहीं बनते बल्कि आहिस्ते से स्त्री के अन्तर्मन को छूने की कोशिश करते हैं "मैंने उसे कुछ भी तो नहीं दिया / इसे प्यार भी तो नहीं कहेंगे । ... ...वह आ गई / और बगल में बैठ गई / धीरे से पीठ तख्ते से टिकाई / और लंबी साँस ली / ... ...लगता है बहुत थकी थी / वह कामगार औरत / काम से वापस घर लौट रही थी / एक डेली पैसेंजर।"[77] समकालीन हिंदी कविता ने पहली बार प्रमुखता से स्त्री के श्रम को महत्त्व दिया है। कथित तौर पर मुख्यधारायी समाज आज भी औरत के काम को हीन दृष्टि से देखने का हिमायती है।

ज्ञानेन्द्रपति और विनोद कुमार शुक्ल की कई कविताएं स्त्री-जीवन के उन पहलुओं को उद्घाटित करती हैं जो पितृसत्तात्मक संरचना में दबी रह जाती हैं। ज्ञानेन्द्रपति की 'ट्राम में एक याद' और विनोद कुमार शुक्ल की 'आज बाजार का दिन है' कविता का भाव पुरुषवादी तंत्र की क्रूरता को जगजाहिर करता है "एक अकेली आदिवासी लड़की को / घने जंगल से डर नहीं लगता / बाघ शेर से डर नहीं लगता / पर महुआ लेकर गीदम के बाजार जाने से / डर लगता है।"[78] ये पंक्तियाँ केवल आदिवासी वर्ग की त्रासदी को ही बयां नहीं करती हैं, बल्कि पूँजीवादी पुरुषतंत्र के सबसे बड़े हथियार बाजार की नरभक्षी मंशाओं को व्यक्त करती हैं। विनोद कुमार शुक्ल की कविता का यथार्थ अपने समय के यथार्थ से गहरे मिलता-जुलता है। उनके यहाँ स्त्री-संसार को देखने की विशिष्ट दृष्टि है। स्त्री-संसार को लैंगिक-संवेदना से समझने की चेष्टा है। प्रेम और दाम्पत्य पर उनकी कविताएं बेजोड़ हैं। प्रेम व प्रकृति के साथ समस्त मानव-जीवन का व्यापार एक-दूसरे में अंतर्ग्रंथित होते दिखता है। विनोद जी की कविताओं में हाशिए के समुदाय को एक मजबूत आधार मिला है।

भगवत रावत की कविता 'उसकी थकान' भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। कवि ने स्त्री के थकान को, उसके श्रम व चिंता को बड़े ही कम शब्दों में पूरी सहृदयता से कविता में संजोया है "कोई लम्बी कहानी ही / बयान कर सके शायद / उसकी थकान / जो मुझसे / दो बच्चों की दूरी पर / न जाने कब से / क्या-क्या सिलते-सिलते / हाथों में / सुई धागा लिए हुए ही / सो गई।"[79] एक काम के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा काम स्त्री जीवन की दिनचर्या का अहम हिस्सा है। इस पूरे अंतराल में उसके लिए मुक्कदस समय निकालना संभव ही नहीं हो पाता है। राजेश जोशी की कविता 'उसकी गृहस्थी' में भी कार्यालय और गृहस्थ कार्य में संलिप्त स्त्री जीवन की शारीरिक-मानसिक यातना के साथ घरेलू परिवेश का व्यवहारिक रूप दिखता है। कार्यालय से थकी-हारी घर पहुँचने के बाद भी घर के कामों में संलग्नता उसकी मनःस्थिति को उदासी और ऊब से भर देती है बावजूद इसके वह श्रमरत रहती है। यहाँ पुरुष भी असहाय

दिखता है। कविता के संवाद सपाट होते हुए भी उस व्यवहारिकता की ओर संकेत करता है जिसमें एक पुरुष चाहकर भी अपनी पत्नी के लिए कुछ कर नहीं पाता और पुनः एक स्त्री को उसका कमान लेना पड़ता है। पुरुषों का पारिवारिक-सामाजिक अनुकूलन उसे तथाकथित स्त्रियोंचित कामों से दूर रखता है। 'रसोई' का कार्य-व्यापार इस कविता को स्त्री-पुरुष संबंधों और पारंपरिक रिश्तों के जड़ संबंधों को सहजता से उकेरती है "थकी हारी लौटी है वो ऑफिस से अभी / टिफिन बॉक्स को रसोई में रखती है ... ... / साड़ी का पल्लू कमर में खोसती हुई वो आती है / मुझे हटाते हुए कहती है "हटो तुम्हें नहीं मिलेगी कोई चीज़।" / होठों को तिररछा करती अजीब ढंग से मुस्कुराती है। / मुश्किल है उस मुस्कुराहट का ठीक-ठीक अर्थ / समझ पाना / ... ...जाओ बाहर जाकर टीवी देखो / एक काम पूरा नहीं करोगे और फैला दोगे / मेरी पूरी रसोई!"[80] पुरुष का हीनताबोध और एक स्त्री की प्रेम भरी आत्मीयता ही इस कविता के टोन को नया लिबास देती है। कुछ न कह कर पर भी बहुत कुछ कहना, समझना, समझाना इस कविता के परिवेश की विशिष्टता है। किसी कार्य में अयोग्य ठहरने पर भी स्त्री नहीं चाहती कि वह हारा हुआ महसूस करे। इसलिए वह उसका साथ देने, उसकी अयोग्यता के भाव को दूर करने आ जाती है। पुरुष यहाँ अपने अति पौरुष भाव को रेड्यूस करता है और नया पुरुष बनने की हल्की कोशिश करता दिखता है। कविता में पति द्वारा यह कहना 'बैठो, तुम, आज मैं चाय बनाता हूँ...' काफी लंबे सफर के पश्चात की उक्ति है। हमारे समय की विफलता, निरंकुशता और आक्रामकता ने स्त्री-पुरुष के सामाजिक संबंधों को विचलन के कगार पर ला खड़ा किया है। ऐसे में एक-दूसरे के अस्तित्व को समदृष्टि के भाव से स्थापित करना ही स्वस्थ समाज की दिशा तय करेगी।

चन्द्रकान्त देवताले की कविता 'नहाते हुए रोती हुई औरत' के रोने का रहस्य सब जानते हुए भी अनजान बने रहने, दिखने का ढोंग स्त्री की पीड़ा व संघर्ष को समझने में असमर्थ है "नदी में डब-डब आँखों-से कमल के फूल या बरसात में फूटती चिंगारियों-सी / नहाते हुए रोती हुई

औरत / किस चीज़ के लिए रो रही है औरत / और क्यों चुना उसने नहाने का वक़्त / ... ... फिर भी मैं बता नहीं सकता / उसके रोने का रहस्य / हालांकि जानते हैं सब / मामूली वजहों से अकेले में / कभी नहीं रोती कोई औरत।"[81] पितृसत्ता के अहम् ने अनायास ही कई सारे ज़्यादतियों को सही ठहराते हुए अपनी आपसदारी को ठेस पहुंचाया। स्त्री-जीवन की मामूली स्थितियों को भी समझने में पुरुष वर्ग विफल रहा है। एक ही छत के नीचे रहकर भी वह उसे रहस्य का पर्याय समझने लगा और मनुष्यता की गरिमा से वंचित रहा। 'धनुष पर चिड़िया' संग्रह की अधिकांश कविताएं स्त्री-संसार और उसके दुख-दर्द को बया करती कविताएं हैं। 'अकेली औरत घर में', 'बालम ककड़ी बेचने वाली लड़कियां', 'कोई नहीं उसके साथ', 'वह आजाद थी सुबकने के लिए', 'बाई! दरद ले', 'देवी वध', 'एक नींबू के पीछे', 'इस मामले में भी बताया गया था', 'औरत का हँसना' आदि कविताओं में कवि ने स्त्री-संवेदना को जीने की कोशिश की है।

विष्णु खरे की 'जो मार खा रोई नहीं', 'लड़कियों के बाप', 'हर शहर में एक बदनाम औरत होती है' आदि कविताएं समकालीन कविता को स्त्री-दृष्टि से समादृत करती है। यहाँ पुरुष का दंभी स्वर संताप की मुद्रा में दिखता है और सामाजिक संरचना में अनुस्यूत पितृसत्ता की फूहड़ता, अमानवीयता को बेदखल करता है। विष्णु खरे बतौर कवि-आलोचक अपने समय के समीक्षक भी रहे हैं। उनकी कविता एवं आलोचना दोनों ही स्थलों पर स्त्री-संसार को मुकम्मल पहचान मिलती है। दमित, वंचित, हाशियाकृत समुदाय हो या जिजीविषा की ललक को मजबूत बनाती, संघर्षरत स्त्री सबकी एक भास्वर अभिव्यक्ति विष्णु खरे की कविता में दिखती है। 'हर शहर में एक बदनाम औरत होती है' कविता एक लघु आख्यान है जो स्त्री जाति पर लगने वाले प्रत्येक चरित्र हनन की पौरुषिक कथाओं को व्यक्त करती है। यह कविता 'बदनाम स्त्री' के रूपक में पुरुष के काइयांपन को परत-दर-परत खोलती है "वह ऐसी किंवदंती होती है / जिसे एक समूचा शहर गढ़ता है और संशोधित-संवर्धित करता चलता है"[82] यह केवल स्त्री की स्थिति

या उनके प्रति सामाजिक पैतरेबाजी नहीं है बल्कि उससे भी अधिक पुरुष मानस में निरंतर निर्मित-परिवर्तित वह स्त्री-बिम्ब है जिसे वह अपनी आवश्यकतानुसार गढ़ता है। विष्णु खरे मूलतः 'लंबी कविताओं के कवि हैं'। लगभग सभी कविताओं का अर्थ-विन्यास गहरी आशंका और अंतर्द्वंद्व को व्यक्त करते हुए अपने समय-संदर्भ को गंभीर सवालों से जोड़ता है। उनकी 'हमारी पत्नियाँ', 'दिल्ली में अपना फ्लैट बनवा लेने के बाद एक आदमी सोचता है' और 'बेटी' जैसी कविताओं ने एकसाथ पारंपरिक और अधुनातन संदर्भों से जोड़ा है। इन सभी या यूं कहें कि विष्णु खरे की तमाम स्त्री-केन्द्रित कविता में स्त्री जीवन के उपेक्षित किन्तु महत्त्वपूर्ण पहलुओं का सामान्यीकरण हुआ है।

स्त्री-संवेदना को अधिक मासूमियत से कविता में अभिव्यक्त करने वालो में पवन करण और और जितेन्द्र श्रीवास्तव की भी चर्चा होती है। पवन करण की 'स्त्री मेरे भीतर' एक नायाब संग्रह है जिसमें पुरुष के भीतर से स्त्री की अभिव्यक्ति पूरी मार्मिकता के साथ होती दिखती है। इस संग्रह की अधिकांश कविताएं प्रेम, तनाव और उत्कंठा से भरी नए उत्साह की कविताएं हैं। पितृसत्ता की जड़ता को उघारते हुए बेटी, बहन, माँ, बुआ और प्रेमिका के अनगिनत अनकहे किस्से जिसे पुरुष समाज सोचना तो दूर, देखना भी नहीं चाहता है। 'उसकी जिद', 'बहन का प्रेम', 'हम पति अनाकर्षक पत्नियों के', 'स्तन', 'एक स्त्री मेरे भीतर', 'प्यार में डूबी माँ', 'दरअसल उसे समझना खुद को समझना है' और 'स्त्री शतक' की कविताओं की अंतर्वस्तु कम से कम एक पुरुष के लिए तो नयी है ही। सामाजिक-धार्मिक तथाकथित मर्यादित ग्रंथियों में जकड़ दी गई स्त्री व्यक्तित्वों को अलग से रेखांकित करना, उनके सपनों और आकांक्षाओं के संवेगों तक पहुँचना आसान नहीं है। आसान नहीं इस समाज में 'माँ' जैसी घोषित-प्रतिष्ठित पवित्र बना दी गई चरित्र को स्वच्छंद प्रेम करते हुए देखना या उन्हें अपने प्रेमी के साथ संसार बसाने की कल्पना करना। 'प्यार में डूबी हुई माँ' कविता का कथ्य जितना आसान दिखता है, उसे अभिव्यक्त करना उतना ही कठिन है और उससे भी कठिन है माँ के प्रेम को स्वीकारना और

सामाजिक प्रतिष्ठा दिलाना। पवन करण जैसे कवि ने इस तोहमत को उठाते हुए उसे विमर्श के केंद्र में लाया है। पिता की मृत्यु के बाद माँ के उदासी भरे जीवन में प्रेम का आना नए संवत्सर का आना है "मैं दुनिया की सबसे ख़ुशनसीब लड़की हूँ / वह इसलिए कि मेरी माँ इन दिनों / अपने पुरुष मित्र के प्यार में डूबी हुई है / और मैं उन्हें आपस में एक-दूसरे को / चुपके-चुपके प्रेम करते हुए देखती हूँ... .../ इन दिनों उसे देख कर लगता है ही नहीं / कि यह औरत तुम्हारी विधवा है / इन दिनों मैं उसे प्रेम करते ही नहीं / अपने प्रेम को छिपाते और बचाते भी / देख रही हूँ।"[83] ध्यान देने बात है कि कवि प्रेम में डूबी माँ को देखने की ताकीद उसकी बेटी को ही देता है बेटे को नहीं। एक दूसरी महत्त्वपूर्ण कविता है 'स्त्री मेरे भीतर'।

'स्त्री मेरे भीतर' कविता का कथ्य पूरी पुरुष जाति के भीतर जिंदा है जिसे पुरुषत्व के दंभ में हमेशा के लिए दफन कर दिया जाता है। प्रेम और मर्यादा की भोथरी आस लिए प्रत्येक पुरुष स्वयं को महाबली दिखाना चाहता है जबकि उसके भीतर का स्त्रीत्व उसे बार-बार ऐसा करने से रोकता है। इस कविता के संदर्भ में कवि विष्णु नागर की टिप्पणी उल्लेखनीय है। वे लिखते हैं "मेरी जानकारी के अनुसार हिन्दी में प्यार में डूबी हुई माँ जैसी कविता पहले नहीं लिखी गई। ... ...जब मैं कहता हूँ कि प्यार में डूबी हुई माँ जैसी हिन्दी में पहले नहीं लिखी गई तो मेरा आशय हिन्दी कविता को एक नया विषय देने का श्रेय पवन करण को देने का नहीं है (क्योंकि वह मेरी नज़र में इतनी बड़ी बात नहीं है और कविता के नाम पर कुल मिलाकर कुलीगिरी है।) मैं दरअसल कहना यह चाहता हूँ कि उन्होंने खासकर इस कविता के रूप में हमें एक ऐसी संवेदना-दृष्टि दी है, जो हमारे पास इससे पहले नहीं थी।"[84] पवन करण की दृष्टि पुरुष के भीतर खंडित हो रही उसी चेतना को विस्तार रूप में कविता में व्यक्त करती है। पुरुष के भीतर अंतर्ग्रंथित उसी स्त्रीत्व के विस्तार रूप में पुरुष में मौजूद अतिपुरुषत्व के भाव को नष्ट कर उसे मानवीय धरातल पर लाएगी। इसी भाव की एक और महत्त्वपूर्ण कविता है 'बहन का प्रेमी'। बहन के प्रेमी को देखना-समझना बहन और उसके प्रेम का विस्तार है और उसके साथ ही उस

भाई का भी संकुचन है जो दंभवश प्रेमविरोधी या बहन विरोधी बना रहता है। यह कविता बहन से अधिक उस भाई के मानसिक परिवर्तन की, उसके भीतर के सकारात्मक उजास की कविता है।

इक्कीसवीं सदी में उभरे महत्त्वपूर्ण कवियों में जितेन्द्र श्रीवास्तव का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। उनकी स्त्री केन्द्रित कविताओं का वितान विषय-वस्तु एवं शिल्प की दृष्टि से अधिक मर्मस्पर्शी है। पात्र मिथक हो या काल्पनिक अथवा वास्तविक, सभी ने अपनी काया से अलग होकर अपनी काया की समीक्षा की है। समाज की दलित-दमित वर्ग की स्त्रियाँ हों या साधारण वर्ग की स्त्रियाँ, कवि ने उन्हें एक वृहद स्पेस अपनी कविताओं में दिया है। कविता में वे स्वयं कम बोलते हैं और कविता अधिक मुखर होती जाती है। 'सोन चिरई', 'नमक हराम', 'इस गृहस्थी में', 'पत्नी पूछती है कुछ वैसा ही प्रश्न जो कभी पूछा था माँ ने पिता से', 'बेटियाँ', 'बिल्कुल तुम्हारी तरह', 'संजना तिवारी', 'रामदुलारी', 'परवीन बॉबी', 'स्त्रियाँ कहीं भी बचा लेती है पुरुषों को', 'सपने में एक लड़की : सोन मछरी' आदि कविताओं में आम चरित्र और साधारण विषयों ने विगत दो दशकों में घटित हुए परिवर्तनों को समझने की एक महीन दृष्टि दी है। परिवार, समाज में शिक्षित व नौकरीपेशा में जाने के बावजूद स्त्रियों के प्रति पुरुषवादी आग्रहों में कोई ढील नहीं हुई है। वह अपनी पहचान और अस्तित्व को लेकर अब भी संदेह के घेरे में लाई जाती है। पतिव्रता, बांझ, चरित्रहीना, वेश्या-कुल्टा आदि अपमानजनक शब्दावली पहले से अधिक प्रयोग में लाई जा रहे हैं। प्रश्न उठता है कि क्या वाकई कोई स्त्री बांझ हो सकती है या यह भी महज उसके स्वाभिमान को कुचलने का एक पुरुषवादी षड्यंत्र है "सोन चिरई आठ बेटों की माँ थी / वह स्त्री थी / और स्त्रियाँ कभी बांझ नहीं होतीं / वे रचती हैं! / वे रचती हैं तभी हम-आप होते हैं / तभी दुनिया होती है / रचने का साहस पुरुष में नहीं होता / वे होती हैं तभी पुरुष / पुरुष होते हैं।"[85] इन पंक्तियों में कोई अतिवाद या अतिश्रद्धा नहीं है बल्कि स्त्री-पुरुष संबंध को परस्पर पूरक के रूप में देखने की कवायद है।

इन सभी कवियों ने अपनी कविताओं में भारतीय पितृसत्ता के सभी रूपों पर प्रहार करते हुए स्त्रियों की दशा और दिशा को नवीन संदर्भों एवं नवीन भाष्य से जोड़ा है। हजारों वर्षों से चली आ रही स्त्रियों के दोहन का चित्र हो या पूँजीवादी पितृसत्ता के नवीन खेल की शिकार होती शिक्षित स्त्रियाँ आदि सभी रूपों को इन कवियों ने नोटिस लिया है। समकालीन हिंदी कविता इस दृष्टि से निरंतर अपना विस्तार कर रही है। विगत तीन-चार दशकों से लगभग सभी कवियों ने विभिन्न अस्मिता विमर्श की आधारशिला को मजबूत बनाया है। आज के कवि ने जाति के प्रश्नों को भी वर्ग के खांचों से निकालकर मंथन किया है और स्त्री-पुरुष संबंधों को नए मानकों में कस रहे हैं। यह एक सकारात्मक पहल है। आलोक धन्वा की 'भागी हुई लड़कियां', अरुण कमल की कविता 'डेली पेसेंजर', भगवत रावत की कविता 'उसकी थकान', राजेश जोशी की कविता 'उसकी गृहस्थी', चन्द्रकान्त देवताले की कविता 'नहाते हुए रोती हुई औरत', विष्णु खरे की कविता 'हर शहर में एक बदनाम औरत होती है', पवन करण की कविता 'स्त्री मेरे भीतर' आदि कविताओं ने स्त्री-कविता के मूल स्वर को स्पर्श किया है। परकाया प्रवेश के सिद्धांत को माने या न माने पर इन कविताओं ने पुरुषवादी ग्रंथियों से इतर एक मनचीते सुचिन्तित संवेदनशील पुरुष का निर्माण जरूर किया है। यहाँ पाठ और पाठक वर्ग दोनों का आस्वाद बदला है। आधुनिक आलोचना में इसे वह सम्मान नहीं मिला है लेकिन इसने सौन्दर्यशास्त्र की नवीन कसौटियों को निरंतर प्रस्तावित किया है और अब भी कर रही है। हिंदी कविता का युवा स्वर काव्यास्वाद की बंधी परंपरा से हटकर सर्वसमावेशीपन की केंद्रस्थ भूमि पर सर्जना के बीज को अंकुरित होते देखना चाहता है।

vi. स्त्री-कविता में प्रेम-संवेदना :

'मुझे प्रेम चाहिए, सारी दुनिया हो जिसमें' समकालीन स्त्री-कविता में प्रेम के जिस दर्शन का परिपाक हुआ है वह कमोबेश नीलेश रघुवंशी की इस काव्योक्ति में सन्निहित है। प्रेम में एकाधिकार व जिस्मानी हक की तुलना में सम्पूर्ण चर-अचर प्रकृति को अपनी संवेदना से पोषित करने का भाव ही स्त्री-कवियों ने व्यक्त किया है। स्त्री-कविता में प्रेम मानवीयता, आत्मीयता तथा सहृदयता के रूपक में बंध कर आता है। स्त्री-कवियों ने प्रेम को पुरुषवादी एकांगी-खंडित व्याख्याओं से निकालकर उसे विशुद्ध भावनागत रूप दिया है ; समता, समभाव एवं समदृष्टि के नियामक पर उसे मनुष्यता का पर्याय बनाया है। प्रेम की व्यापकता एवं विराटता का बोध लगभग सभी स्त्री-कवियों ने अपनी कविताओं में किया है। इसके साथ ही स्त्री-कविता में उस प्रेम-भावधारा की भी अभिव्यक्ति शामिल है जिसे पितृसत्ता ने स्त्रियों के खिलाफ एक कोमल हथियार की तरह इस्तेमाल किया है।

गगन गिल, कात्यायनी, अनामिका, रजनी तिलक तथा सविता सिंह आदि की कविताओं में प्रेम के उस रूप का भी दिग्दर्शन हुआ है जिसके सहारे पुरुष सत्ता स्त्री को मात देता है। प्रेम को पाने के लिए कभी भय तो कभी पराक्रम का सहारा पितृसत्ता हमेशा से लेती रही है 'भय बिनु होत न प्रीत गोसाई' महाकवि तुलसीदास भी कह गए। कहने का आशय यह है कि जैसे साम्प्रदायिकता संस्कृति के खोल में प्रहार करती है, वैसे ही पुरुषवादी तंत्र में प्रेम स्त्री के बधियाकरण की रणनीति रहा है। संपत्ति की भांति प्रेम भी स्त्री को पाने का –उस पर अपना अधिकार जमाने का साधन मात्र था। कभी-कभी यह कार्य इतनी कोमलता से किया जाता है कि इसे समझना दुष्कर हो गया। इससे इतर दुनिया के सारे पूर्वग्रहों, नियमों, लोभ-मोह आदि से निरपेक्ष प्रेम की आकांक्षा ही स्त्री-कवियों का प्रेम विषयक अहसास है। सविता सिंह के शब्दों में कहें तो "लाना मेरे लिए खुद को / जैसे चिड़िया लाती है तिनका संभाल कर।"[86] प्रेम का यह शांत, धवल और उन्मुक्त स्वर प्रेम की नयी दिशा है। किसी भी तरह की अलंकारिक ग्रंथियों से

विमुक्त रखना तथा समाज की पुरुषवादी संरचना में प्रेम के स्थापत्य को अधिक संवेदनशील, अधिक मानवीय और परिवर्तनकामी बनाता है।

प्रेम की सार्वभौमिकता तथा उदात्त रूप की काव्यात्मक गाथा गगन गिल की कविताएं रचती हैं। स्त्री-पुरुष संबंधों की आधारशिला को मजबूत करने में प्रेम ही एक मजबूत माध्यम बन सकता है। अतः प्रेम की निर्द्वंद्व सार्वजनीन व भावोच्छवास की महीन लड़ियों से गगन ने प्रेम को परिभाषित किया है। स्त्री के लिए प्रेम कतिपय उसकी अपनी दुनिया की आकांक्षा है। प्रेम की ऐन्द्रीयता एवं अतीन्द्रीयता के गझिन सवालों को वह बुद्धत्व की दार्शनिक भावभूमि तक ले जाती है। जन्म से लेकर मृत्यु तक सभी दैहिक-आत्मिक विधियाँ – समर्पण को प्रेम के कोटरों में होते देखना चाहती है कवयित्री। प्रेम पाने की पात्रता को भी जाँचती-परखती गगन का कवि-मन मनुष्य को अपनी अभिव्यक्ति हेतु पूरी मोहलत देता है। प्रेम के कुछ इन्हीं भावों को अलग रूपक में सँजोती हैं नीलेश, रंजना जायसवाल तथा अनीता वर्मा की कविताएं। निश्चित रूप से स्त्री-कवियों की प्रेम विषयक अवधारणा समकालीन कविता में प्रेम की अधिक व्यापक और नवीन भंगिमा को प्रस्तुत करती है। प्रेम के प्रेरक उपकरण केवल रूप सौंदर्य न होकर समस्त जीवन-व्यापार की गतिविधियाँ होती हैं। स्त्री-कविता में प्रेम अधिक मानवीय रूप में व्यक्त होता है। रेखा सेठी अपनी पुस्तक 'स्त्री-कविता : पक्ष और परिप्रेक्ष्य' में लिखती हैं "समकालीन कविता में प्रेम जिस गहरे भाव-बोध से सृजित है उसमें रूप-सौंदर्य की अनेक आकर्षक छवियाँ हैं। जब स्त्रियाँ प्रेम को कविता में लाती है तो पुरुष सौंदर्य का आलम्बन नहीं बनता। ... ... स्त्री-कविता में प्रेम की स्थिति भावनगत सौंदर्य अर्जित करने की ओर झुकी हुई है जिसमें समता व संवेदनशीलता का कोमल आग्रह है। प्रेम के इस रूप में ही मानवीय एकसूत्रता की संभावनाएं संलिप्त हैं।"[87]

स्त्री-कविता के इस व्यापक दृष्टि-बोध को समझने की आवश्यकता है। साहित्येतिहास में जहां एक ओर प्रेम को स्त्री-देह से जोड़कर सैकड़ों ग्रंथ लिखे गए, युद्ध और वीरता-प्रदर्शन के

कारणों में स्त्री-देह के सौंदर्य या उससे अभिभूत प्रेम को ही तलाशा गया हो, उस स्थिति में स्त्री-कवियों के प्रेम के नाम पर जो शृंगारिक रचनाएं कीं, उनमें प्रायः स्त्री के स्थूल भावों का निरूपण हुआ है। स्त्री के अंतःकरण व उनके सूक्ष्म कणों को स्पर्श करने की चेष्टा बहुत कम हुई। उनकी अपनी भावनाओं की शैली और शब्द दोनों भिन्न तो हैं ही प्रेम के प्रति एक मातृमना व्यापक दृष्टि भी है जो व्यक्ति या संसार को खंड-खंड में देखने के बजाय समग्रता में देखती है, अधिकार भावना की जगह स्वच्छंदता के रूप में देखती है। सौंदर्य की परिभाषा भी इस दृष्टिक्रम में बदल जाती है और प्रेम की महागाथा के दर्शन होते हैं : "वह जो कि है ही नहीं –सबसे सुंदर है : / जैसे कि गर्माहट, प्यार-व्यार, खुशी और / उम्मीद। ... ... वह जो कि है ही नहीं / या फिर बचा हुआ है थोड़ा-थोड़ा / या फिर कुछ होने की प्रक्रिया में है - / सुंदर वही है / और सौंदर्यशास्त्र का / एक नियम है गजब-सा - / जो थोड़ा भी सुंदर है, सबसे सुंदर है।"[88] प्रेम एवं सुंदरता की कोई निश्चित न परिभाषा हो सकती है, न कोई आकृति। उसकी निरंतर खोज व यात्रा ही उसे उच्चता प्रदान करती है।

हिंसा और क्रूरता के सहारे प्रेम को पाने की, स्त्री-देह पर अपना आधिपत्य जमाने की लालसा पितृसत्ता को हमेशा से रही है। स्त्री-पुरुष संबंध, विवाह तथा परिवार आदि संस्थाओं में प्रेम इसी भय और क्रूरता में पलता है। इसे शामियाने की तरह पितृसत्ता पेश करता आया है लेकिन इसके भीतरी तहों में स्त्री-उत्पीड़न की महागाथा छिपी होती है। विवाह भी उन्हीं उत्पीड़नों का एक हिस्सा है। बेमेल विवाह, प्रेमविहीन विवाह तथा आवश्यकता से अधिक कामों का बोझ –एक स्त्री के जीवन को रसोई, घर, बिस्तर और बच्चे-पालन में ही सीमित कर देता है। विवाह के दायित्वों और घरेलू कामकाजों में बंधा जीवन ही स्त्री-जीवन का पर्याय बनता है। पुरुषों का सहयोग यहाँ नाममात्र ही है। प्यार की हसीन दुनिया घर की चारदीवारी की कैद में बदल जाती है और स्त्री की नियति का अंत हो जाता है। आसमान मानकों एवं व्यवहारों पर आधारित स्त्री-पुरुष संबंधों में प्रेम की गुंजाइश धीरे-धीरे रिसने लगती है। प्रेम की पहली शर्त ही

समानता और सम्मान का भाव है। इसके अभाव में स्त्री-पुरुष संबंध प्रेमविहीन तथा संवेदनशून्य हो जाता है। प्रेम की कामना भी विरक्ति में बदल जाती है : "सोचा था / प्यार की दुनिया / बड़ी हसीन होगी / 'उसके' साथ ज़िंदगी / रंगीन होगी / पाया एक अनुभव / प्यार एक पदार्थ / थकावट भरी नींद / विवाह की कल्पना थी / मृदुल शांत / प्यार की छत अहसासों की दीवारें / परंतु वह निकली / एक रसोई और बिस्तर / और आकाओं का हुक्म।"[89] प्रेम की कामना और यथार्थ के इस फासले की डोर ने प्रेम को पदार्थ में तब्दील कर दिया। पुरुष का एकाधिकार भाव और हुक्मराना अंदाज स्त्री के प्रेम को समझने में असफल रहा। उसे बस हासिल करना ही उसका अंतिम उद्देश्य रहा । रजनी तिलक की ये पंक्तियाँ पुरुष वर्चस्ववादी सामाजिक वातावरण में प्रेम और विवाह के प्रति एक साधारण स्त्री का रुख है। घर, रसोई और गुलाम बनाए रखने की यह रणनीति प्रेम के सहारे ही संपन्न होती है। इसी दृष्टिकोण से पितृसत्तात्मक व्यवस्था के लिए प्रेम स्त्री को दबाए रखने का एक कोमल औज़ार है। प्रेम की उदात्त भावना के स्थान पर पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने स्त्री-जाति को 'वस्तु' या 'भोग' या 'सुंदर देह' के रूप तक ही सीमित कर दिया।

स्त्री-कवियों ने बार-बार प्रेम को निर्बंध करने की वकालत की है। सामंती या पितृसत्ता के मानकों से पृथक जीवन के संघर्ष में ही प्रेम के अंकुर का विकास संभव है। जीवन-संघर्ष के दायरे में प्रेम होना, प्रेम करना, प्रेम को भाव व संवेदना से समृद्ध करना है। स्वतंत्र या उन्मुक्त हुए बिना प्रेम की कल्पना निराधार है। कात्यायनी के प्रेम विषयक उद्गार प्रेम में उन्मुक्तता, स्वतंत्रता तथा संघर्ष को ही मूल मानते हैं। उनकी सैकड़ों शीर्षक-विहीन प्रेम कविताएं प्रेम में संघर्ष-जनसंघर्ष और दुनियावी यथार्थ को लिए चलती हैं। प्रेम में भावुकता या कोमलता या कल्पनाशीलता उसे लोकोत्तर बनाती है जो प्रेम को अति आदर्श के खाँचे में ला खड़ा करती है। जरूरी है कि व्यक्ति अपने जीवन-संघर्ष में ही प्रेम की ताकत को पहचाने और दुनिया को सुंदर बनाने का स्वप्न देखें "प्यार को अब / तुम सदा के लिए ही निर्बंध कर दो। / प्यार ही उन्मुक्त गति है / और जीवन का सदा से / बोध गति में ही में ही निहित है / गति कठिन है / जटिल है –

संघर्षमय है, / कठिन है यह – क्लेशकारी – व्यथाकारी। ... ... दृष्टि को व्यापक बनाने के लिए अब / प्यार को निर्बंध कर दो / कोई कभी भी अब इसे सीमा न दो, / सहज-नैसर्गिक बनाओ।"[90] गतिशीलता जीवन का सबसे बड़ा सच है। अतः जीवन के कठिन, जटिल संघर्ष में प्रेम ही आश्रय बन सकता है। निस्सीम-नैसर्गिक, सहज-सरल प्रेम जीवन को गतिमान और परिवर्तनशील बनाने का उपक्रम है।

प्रेम के अंतरिम भाष्य को विभिन्न मनःस्थितियों के संवेगों से जोड़ते हुए प्रेम में रीतने व समर्पण के भाव को लेकर गगन की प्रेम कविताएं प्रेम की पराकाष्ठा या देह से विदेह की यात्रा को निवेदित है। उनकी अधिकांश प्रेम कविताओं के केन्द्र में विरह और संताप की अलग-अलग सरणियाँ हैं ; बुद्ध के करुणा भाव से महमह प्रेम। लोक व लोक से परे, भौतिक और भौतिक जगत से परे प्रेम के आलंबन रूप को, उन्होंने कविता को सूफियों की तरह संयोजित किया है। कुछ-कुछ भक्त कवि या सूफी संत कवियों जैसी भाव-भंगिमा और आत्मा-परमात्मा के भाव जैसा। उनकी प्रेम की एकनिष्ठता भी सर्वव्यापी है। स्त्री की भूमिका वहाँ अत्यंत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि प्रेम स्त्री जीवन में मिथ बनकर ही रह जाता है बावजूद इसके वह अपना समर्पण भाव कभी नहीं छोड़ती : "वह उसे पाप की तरह चाहेगी / वह उसे पुण्य की तरह चाहेगी / किसी अनजान जगह के / अनजान कमरे में / ... ... वह उसे चाहेगी / पाप की तरह / पुण्य की तरह / और अपनी देह में लौट जाएगी / गुम चोट की तरह।"[91] पाप और पुण्य की हद तक चाहना और प्रेम करना विरोधाभास के बावजूद सम्पूर्ण मन, वचन, कर्म सहित समर्पण है जिसमें जीवन न्योछावर करने का माद्दा होता है।

गगन प्रेम के उस पंथ को चुनती हैं जो कम से कम प्रत्याशा के बावजूद एक स्त्री को कभी नहीं मिलता। साहित्य में जिन स्त्री-छवियों को नायिका के रूप में चित्रित किया जाता रहा है वह वास्तविक रूप में कहीं नहीं दिखती है। कवयित्री 'कविगण' के उस मुग्धा-प्रगल्भा स्त्री की कामना को जानती है। कभी-कभी वह उस स्त्री को खोजती भी है। उनकी एक महत्त्वपूर्ण

कविता है 'कविगण कविताओं से डरते हैं' जिसका मूल अर्थ है 'कविगण लड़कियों की कविताओं से डरते हैं'। यह डर लाजिमी है। जब स्त्रियाँ स्वयं कविता में उतरती हैं तो वह रहस्य का पर्दाफाश कर देती हैं जिसे कवियों ने सदियों से 'रसिकों' के बीच आनंद की वस्तु बनाए रखा। कविगण इसलिए भी डरते हैं क्योंकि अब उनकी चोरी और दुर्बोधता पकड़ी जाएगी। कवियों का डर इसलिए भी मानीखेज है क्योंकि उनके बताए प्रेम के नियामक के इंतजार में उनकी स्त्रियाँ बूढ़ी हो रही हैं। कविगण जानते हैं कि वह कल्पना और विलासिता की उपज है उसकी वास्तविकता से, प्रेम से, स्त्रियों के जीवन से कोई संबंध नहीं है "कविगण लड़कियों की कविताओं से डरते हैं / कविगण लड़कियों की कविताओं से क्यों डरते हैं? / ... ... कविगण नहीं डरते अकेलेपन से / न हताशा से / कहीं वे इस प्रेम से तो नहीं डरते / जिसके इंतज़ार में उनकी औरतें / थककर बूढ़ी हो रही हैं?"[92] गगन गिल की प्रेम विषयक अवधारणा पूरी समकालीन कविता की परंपरा में अलग है। उनके मानस में प्रेम संज्ञा के रूप में उपस्थित है। उनकी 'प्रेम में तो नहीं है लड़की?', 'यदि तुम उसे', 'जाते हुए', 'अयोध्या में पुण्य-स्मृति', 'नींद उसे आ जाती थी', 'किसी दूसरे का प्रेम', 'प्रेम में लड़की शोक करती है' आदि कविताओं ने पहली बार प्रेम के क्षणों में वेदना या पीड़ा के भौतिक अभौतिक भावों को अभिव्यक्त किया है। चूंकि उनकी कविता पर बौद्ध दर्शन का प्रभाव अधिक है। अतः स्वभावतः इन कविताओं में प्रेम के सामानांतर ही वेदना, पीड़ा के साथ ही स्त्री देह से जुड़े महत्त्वपूर्ण पक्ष प्रसव, मातृत्व, वैधव्य आदि के प्रश्न भी संदर्भित हैं। इन प्रेम कविताओं की एक और बड़ी विशेषता है उसका संकेतधर्मी व विविधधर्मी अर्थापन अर्थात उनकी प्रेम कविताओं में कई संकेत बिखरे पड़े हैं। कभी वह दर्शन के रूप में अपनी बात कहती है तो कभी सीधे-सीधे :

"प्रेम तुम्हें भलीभाँति मरने की पूरी मोहलत देता है।"[93]

"शोक में लड़की प्रेम करती है / ऐसा प्रेम ईश्वर जिससे दुश्मनों को बचाए!"[94]

"प्रेम में इच्छा थी / इच्छा में देह"[95]

ये उद्धरण प्रेम से अधिक स्त्री जीवन के नियति की है। इनकी व्याख्या के बगैर स्त्री जीवन को समझना आसान नहीं है। रेखा सेठी ऐसी कविताओं का विश्लेषण करते हुए उसे 'भावना का उद्द्याम आवेग' की संज्ञा देती हैं। वे लिखती हैं "गगन गिल की कविताओं में प्रेम के ये अलग-अलग रंग है। उनके यहाँ प्रेम वहशत की तरह है जिसमें भावना का उद्द्याम आवेग है। इच्छा-आकांक्षा और मृत्यु सब उस प्रेम में संभव है। ऐन्द्रीयता एवं अतींद्रीयता का गज़ब तनाव उसे विलक्षण बनाता है। इतना आत्मीय, अभिन्न फिर भी पहुँच के पार। आकांक्षा कई परतों से बाहर होकर भी मकड़ी की तरह कई तारों में फंसी है। इच्छा-आकांक्षा की बार-बार होने वाली चर्चा यह प्रश्न खड़ा करती है कि जिस प्रेम का एक छोर मृत्यु है और दूसरा देह, उस प्रेम को किस लोक में अवस्थित किया जाए।"[96]

गगन की ही तरह प्रेम की अल्हड़ता को कवयित्री अनीता वर्मा ने भी अलग-अलग रूपकों में अभिव्यक्त किया है। प्रेम के साथ प्रकृति और चर-अचर, जन्म-मृत्यु, हर्ष-विषाद की वृत्तियाँ ऐसे आती हैं जैसे एक ही काल संघटन में सभी ऋतुएं एकसाथ शामिल हो गई हों। उनकी यह फरियाद कि 'मृत्यु की सफ़ेद परछाइयों के परे / कहीं जन्म लेता होगा प्रेम' मृत्यु और वहशत से प्रेम को खींच लाने का संजोग है। कवयित्री प्रेम में स्वयं 'मैं' को भी इस तरह तिरोहित करती है जैसे वह समस्त मानव जाति का अभिर्कृतित्व बन बैठी हो। यहीं स्त्री-कविता के 'मैं' का, स्त्री के स्वत्व का विस्तार होता है। वह निजी से निजेतर और पर्सनल से पॉलिटिकल बनता है। उनकी कविता 'अभी' की संप्रेषणीयता इसी बात की ओर इशारा करती है : "अभी मैं प्रेम से भरी हूँ / पूरी दुनिया शिशु सी लगती है / मैं दे सकती हूँ किसी को कुछ भी / रात-दिन वर्ष-पल अनंत / ... ... अभी जब मैं प्रेम करती हूँ / दुनिया में भरती हूँ रंग / जंगलों पर बिखेरती हूँ हँसी / समुद्र को सौंपती हूँ उछाल / पत्थरों में भरती हूँ शांति।"[97] प्रेम में मुक्ति और स्वतंत्रता इसी को कहते हैं। प्रेम का सर्वव्यापी भाव किसी सीमा अथवा एकनिष्ठ भाव से अधिक व्यापक

और वैश्विक ठहरता है। उनकी एक और कविता है 'प्रेम'। इस कविता में भी प्रेम के साथ समुद्र, पानी, बादल, हवा, आकाश, पहाड़, सूरज, जंगल एकसाथ अपनी उपस्थिति दर्ज करते हैं। प्रेम में सफल या असफल ('प्रेम के भीतर व्यर्थ होती हुई स्त्री') होती स्त्री का चेहरा पूरी मार्मिकता के साथ यहाँ उभरता है। अनीता वर्मा की सघन संवेदना स्त्री के प्रति सहानुभूति भाव को आत्मन्वेषण की दृष्टि से देखती है। उनके चिंतन के केंद्र में जितना बाह्य घटक शामिल है, उससे भी अधिक स्त्री के आभ्यंतर में होने वाले विचलन की अंतःक्रियाएँ हैं जो अलग-अलग बिम्ब का रूप ग्रहण करती हैं। विभिन्न कलाकृतियों पर केन्द्रित उनकी कविताएं इस बात का प्रमाण है कि वे अपनी चेतना के प्रेम की झापस कणों से ही सिक्त करती हैं।

स्त्री-कविता की परंपरा में रंजना जायसवाल और निर्मला की कविताओं का स्थापत्य अत्यंत व्यवहारिक, उदारमना और बालसुलभ वृत्तियों से पूरित है। मानवीयता एवं प्रेम की अलग-अलग अर्थछवियों में इन दोनों कवयित्रियों ने अपने जीवनानुभवों को कविता के साथ अभिव्यक्त किया है। कवयित्री रंजना के लिए प्रेम क्रांति का दूसरा नाम है 'क्रांति है प्रेम'। प्रेम करता पुरुष हो या स्त्री, दोनों एक नवीन भंगिमा और काया के साथ नज़र आने लगते हैं। पुरुष का अतिपुरुष होने का भाव प्रेम में ही विलय हो जाता है। बतर्ज रंजना जायसवाल - "सच कहूँ तो पूरी स्त्री होता है / प्रेम करता पुरुष।"[98] ऐसी छोटी-छोटी आत्मपरक प्रेम कविताएं सैकड़ों की संख्या में कवयित्री ने लिखी है। जीवन के छोटे-छोटे प्रसंगों में प्रेम की उपस्थिति कवयित्री के बालमन को आह्लादित करती है :

"प्रेम / ज़िन्दगी के / कागज़ पर / दिल की मुहर है।"[99]

"प्रेम का घरौंदा / बनाया था / मिलकर / फिर किसने हक़ दे दिया तुम्हें / तोड़ने का अकेले।"[100]

"इतना विराट था / प्रेम / कि खत्म हो गए / प्रेम करने वाले / उसके खत्म होने से पहले।"[101]

"कैसे इतना / उलट-पुलट जाता है सब कुछ / प्रेम में / प्रेम करके जाना / कि प्रेम एक क्रांति है।"[102]

"प्रेम करना / ईमानदार हो जाना है / यथार्थ से स्वप्न तक... समष्टि तक / फैल जाना है त्रिकाल तक / विलीन कर लेना है / त्रिकाल को भी... प्रेम में... अपने"[103]

"भला कैसे जान सकती थी / प्रेम भी खरीदा-बेचा जा सकता है / बाजार में / दिल ही नहीं दिमाग से भी / किया जाता है प्रेम / महज एक सौदा है प्रेम / सौदागर हो तुम प्रेम के / कहाँ जानती थी?"[104]

प्रेम के अनगिनत भावों को शब्दबद्ध करती कवयित्री ने छोटे-छोटे अंतरालों में एक लंबी प्रेम कविता लिखी है। प्रेम को एक निश्छल मानवीय रूप में व्यक्त करना रंजना जायसवाल की काव्यगत विशेषता है। वे स्त्री के प्रेम को अलग से रेखांकित करना चाहती हैं क्योंकि प्रेम को अंत समय तक बचाये रखने की ताकत एक स्त्री में ही होती है। प्रेम में त्याग, बलिदान और पीड़ा उसी के हिस्से आती है। पुरुष हमेशा अन्यान्य विकल्पों के साथ निकल जाता है लेकिन स्त्री घर की चारदीवारी में अपनी अंतिम सांस तक उसे बचाये रखती है। स्त्री के लिए प्रेम प्रतिरोध और क्रांति का भी रूप समय-समय पर लेता रहा है। पितृसत्तात्मक संरचना में प्रेम को अब हथियार की तरह इस्तेमाल करना संभव नहीं है। नयी स्त्री इस हथियार की रणनीतियों को समझ चुकी है। अतः वह अब प्रेम और सौंदर्य के उस तयशुदा खाँचे से स्वयं को निकालने की घोषणा कर रही है।

मानवता की सबसे बड़ी भित्ति प्रेम ही है। इसी के सहारे पूरी दुनिया में अमन और बंधुत्व संभव है। रंजना जायसवाल की कविताओं में प्रेम करती स्त्री साधारण जनों के बीच की है। वह प्रेम के बदले प्रेम और सम्मान का भाव ही मांगती है। सहज, सरल, निर्द्वंद्व भाव की कामना जो मानवीय संबंधों को उच्चतम स्थलों तक पहुंचा दे। आधुनिकता की नयी चेतना ने मनुष्य को

बौद्धिक और तकनीक से तो लैस किया लेकिन उसके भीतर की प्रेम-कामना व कोमलता को नष्ट कर दिया। अब प्रेम की तलाश महज एक देह-प्राप्ति तक ही सीमित है। प्रेम के लिए यह खतरनाक दौर है। कवयित्री रंजना जायसवाल ने अपनी कविताओं में प्रेम के सच को विस्तृत रूप में रखा है। प्रेम की व्यापक अनुभूति को उन्होंने सबसे उच्चतम व कल्याणकारी स्थान दिया है। 'क्रांति है प्रेम' की भूमिका (प्रेम का सच) में प्रेम को परिभाषित करते हुए वे लिखती हैं "संसार में जो भी सबसे सुंदर, सत्य और उत्तम है वही प्रेम है। हर इंसान के लिए प्रेम का रूप अलग है, अनुभव का स्तर भी। कोई देह स्तर पर प्रेम को पाकर संतुष्ट हो जाता है तो कोई मन की गहराई तक उतरता है। थोड़े से वे लोग भी होते हैं जो तन-मन से भी गहरे उतर कर आत्मा तक पहुँचते हैं और वे ही प्रेम की पूर्णता का अनुभव प्राप्त कर पाते हैं।"[105] भारतीय ज्ञान-परंपरा में भी सत्यम् शिवम् सुंदरम् की बात कही गई है। इसी भूमिका में कवयित्री आगे लिखती हैं "यहाँ प्रेम किसी एक व्यक्ति मात्र के प्रति ही नहीं है बल्कि पूरी प्रकृति व मनुष्यता के प्रति है। मेरे विचार से प्रेम जीवन का रंग महोत्सव है। कोमल अनुभूतियों का समुच्चय। स्त्री-पुरुष के बीच दुख-सुख, संयोग-वियोग, राग-द्वेष, त्वरा-आवेग, उद्वेलन सब का आवर्तन-प्रत्यावर्तन। एक खूबसूरत अहसास। प्रेम में स्त्री प्रकृति बन जाती है। फूल, तितलियाँ, चाँदनी, सागर, नदियाँ, झरने सभी तो शामिल हो जाते हैं उसके प्रेम में, यहाँ तक कि सारी दुनिया।"[106] प्रेम की इस व्यापक अवधारणा में इंसानियत का मधुर पाठ सन्निबद्ध है। कवयित्री प्रेम के अंतर्विरोधों पर भी खुलकर अपनी बात रखती है। प्रेम को अवसर या सीढ़ी की तरह इस्तेमाल करने वाले मूढ़ व्यक्तियों को उलाहना देती है। स्त्री के प्रेम में हमेशा स्व का विस्तार होता है और वह पूरी दुनिया को उसमें समेटती है। ऐसा प्रेम, 'जिसमें सारी दुनिया रहती हो' की आकांक्षा सभी स्त्री-कवियों की है और हर एक स्त्री की भी। इसी अर्थ में वह प्रेम में प्रकृति बनती दिखती है। कहीं कोई भेदभाव नहीं, जो है सबके लिए है, समान रूप से है। प्रकृति की विराट दृष्टि स्त्रीत्व को

सर्वसमावेशी रूप में आधिष्ठित करती है। स्त्री के मानचित्र में यह भावना ही आज के विषम वातावरण में स्त्री-पुरुष संबंध को पुनर्संस्कारित कर रही है।

प्रकृति से प्रेम या प्रेम में प्रकृति हो जाने का अर्थ व्यापक दृष्टिबोध से है। इस व्यापक दृष्टिबोध को सबसे अधिक आदिवासी स्वर में सुना जा सकता है। प्रकृति के सहजीवी इस वर्ग के उद्गार में प्रकृति भूख और प्यास की तरह शामिल है। आदिवासी स्त्री-कवियों के यहाँ तो प्रेम प्रकृति की ओट में ही आता है। उनके यहाँ प्रेम का आलम्बन प्रकृति ही बनती है। निर्मला पुतुल, वंदना टेटे, युवा कवयित्री जसिन्ता केरकेट्टा की कविताओं में प्रेम और प्रकृति अपने पूरे सांस्कृतिक वैभव के साथ मौजूद है। निर्मला पुतुल की प्रेम कविताओं में प्रकृति ही नहीं बल्कि पूरा परिवेश स्पंदित होता है। प्रेम की विशुद्ध भावधारा और स्नेह मिलन के कुछ ऐसे रूप उभर कर आते हैं जिसकी छवि स्मृति को भावविभोर कर जाती है। इसके साथ ही आती है प्रेम की योग्यता का निवेदन। उनकी 'माँ के लिए ससुराल जाने से पहले', 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!', 'अभी खूंटी में टांग कर रख दो माँदल', 'तुम्हारे हाथ', 'जमाने में और भी गम है मोहब्बत के सिवा', 'स्वर्गवासी पिता के नाम पाती' आदि कविताओं का स्वर प्रेम में स्वतंत्रता का हिमायती है। आदिवासी जनजीवन के समक्ष आई चुनौतियों से संघर्ष करते हुए भी निर्मला पुतुल प्रेम की लीक को नहीं छोड़ती हैं। प्रेम की भावना में भी अपने दायित्व और कर्त्तव्य को नहीं भूलतीं - "कह दो अपने संगी-साथी से / बजाए नहीं असमय ढोल माँदल / रसोई में भात पकाते / थिरकने लगते हैं मेरे पाँव / मन उड़ियाने लगता है / रूई के फाहे-सा दसों दिस / अभी बहुत सारा काम पड़ा है / घर-गृहस्थी का।"[107] गहरी मनःस्थिति में नकार का भाव प्रेम की रागात्मक वृत्ति को और भी गहरा कर देता है। प्रेम की कल्पना भर से मन में उमंग, थिरकन और बांसुरी, माँदल, ढोल आदि के थाप का संयोजन पूरे परिवेश को चित्रमय रूप में उकेर देता है। कवयित्री बांसुरी, माँदल और प्रेम की भावना के साथ ही यह भी दिखाना चाहती है कि एक स्त्री चाहकर भी प्रेम नहीं कर सकती है क्योंकि उसे अभी गृहस्थी और बाहर के अनेक काम निपटाने

हैं। उसे बहुत कम समय मिलता है प्रेम करने के लिए, बांसुरी और माँदल पर अपने संगी के साथ नृत्य करने के लिए।

आदिवासी स्त्री की अस्मिता को मजबूत बनाती 'माँ के लिए ससुराल जाने से पहले' और 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!' कविता आदिवासी समाज के साथ-साथ पूरे स्त्री समाज के लिए महत्त्वपूर्ण है। ससुराल जाने से पहले एक बेटी की उलाहना कि "माँ! चली जाऊँगी एक दिन छोड़कर / तुम्हारा घर आँगन / बरतुहारी जो कर आई हो / तुम / रस्सी में गाँठ-सी / बांध जो आई हो मेरी शादी की तिथि! / पर क्या सचमुच / जा सकूँगी पूरी का पूरी यहाँ से?"[108] यह प्रश्न सदैव प्रश्न ही बना रहता है। सामाजिक पितृसत्तात्मक ढाँचे में स्त्री के लिए घर होता ही नहीं। पूरी कविता में माँ-बाबा के प्रति एक बेटी की चिंता जितनी जायज है, उतना ही उसका आत्मीय प्रेम भी। यह कथन कि उसके जाने के बाद घर-गृहस्थी का कामकाज कौन करेगा?, उसके पाँव कौन दबाएगा?, उसे खाना-पानी कौन देगा?, घर के पशु-पक्षियों की देखभाल कौन करेगा? घर के बाहर का कम कौन करेगा! क्योंकि 'भैया तो डूबा रहेगा हड़िया में' आदि-आदि। इन चिंताओं में लैंगिक भेदभाव की पीड़ा और अपनों के प्रति समर्पण दोनों भाव अनुस्यूत है। समाज का यह विधान केवल स्त्री के जीवन को ही क्यों तोड़ता है, समझना मुश्किल है। दूसरी महत्त्वपूर्ण कविता 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा!' है। इस कविता का अर्थ और संदर्भ प्रेम के, सबंध के नए मानक निर्मित करता है। यहाँ भी बेटी का अपने पिता के प्रति मनुहार भाव द्रष्टव्य है। वे कहती हैं "बाबा! / मुझे उतनी दूर मत ब्याहना / जहां मुझसे मिलने जाने की खातिर / घर की बकरियाँ बेचनी पड़े तुम्हें / मत ब्याहना उस देश में / जहां आदमी से ज्यादा / ईश्वर बसते हों"[109] यह आत्म निवेदन उस चकाचौंध और विकास की छद्म अवधारणा को धता बताता है। वह जगह जहां जंगल, नदी, पहाड़, पशु-पक्षी की जगह मोटर गाड़ियों का शोर और बड़ा-सा आँगन की जगह पतली गलियाँ हों- इन सब जगहों में न जाने की इच्छा और ऐसे वर की तलाश जो नशे में धुत्त न रहे, अपनी संस्कृति और सामाजिकता के प्रति सचेत हो और प्रेम करने की योग्यता रखता हो। इसी

भाव से वह पिता से कहती हैं "...और उसके हाथ में मत देना मेरा हाथ / जिसके हाथों ने कभी कोई पेड़ नहीं लगाये / फसले नहीं उगायीं जिन हाथों ने / जिन हाथों ने दिया नहीं कभी किसी का साथ / किसी का बोझ नहीं उठाया / और तो और! / जो हाथ लिखना नहीं जानता हो 'ह' से हाथ / उसके हाथ में मत देना कभी मेरा हाथ।"[110] यह नयी स्त्री की आकांक्षा है। पुरुष समाज के लिए प्रेम पाने की अर्हता। इस प्रेम और आकांक्षा की कोई सीमा नहीं है, निस्सीम। एक स्त्री का प्रेम अपने साथ कैसे चराचर जगत को समेटता है इसका उत्तम उदाहरण है यह कविता। कवयित्री ने अपने भविष्य और स्वप्न को विलग होने नहीं दिया है। आदिवासी संस्कृति का वैविध्य इस कविता की एक-एक पंक्ति में दर्ज है। इस कविता की अंतिम पंक्ति में जैसे प्रेम का सार निहित हो। कवयित्री जैसे यह कहना चाहती हो कि उसका ब्याह ऐसे व्यक्ति से हो जिसमें वह स्वयं अपना अक्स देख सके। ऐसा व्यक्ति "जिससे खाया नहीं जाए / उसके भूखे रहने पर!!"[111] प्रेम की यह कोमल तान और आस ही स्त्री-कविता का संधान है।

स्त्री-कवियों ने प्रेम के सौन्दर्य और स्थापत्य को कई रूपों में व्यक्त किया है। प्रेम और बंधुत्व भाव से ही समाज-राष्ट्र में अतिहिंसा को खत्म किया जा सकता है। यह एक तथ्य है कि स्त्रियां कभी भी युद्ध अथवा साम्प्रदायिक हिंसा के पक्ष में नहीं होती हैं। इसका कारण साफ है कि युद्ध व हिंसा में सबसे अधिक स्त्रियों को ही शिकार बनाया जाता है। विश्व साहित्य के सभी स्त्री-कवियों ने इस पक्ष को प्रमुखता से उभारा है। पूँजी एवं तकनीक केन्द्रित पितृसत्ता आज सबसे बड़ी चुनौती है जिससे निपटना बेहद मुश्किल होता जा रहा है। इसने मर्दवादी भाषा और स्त्रीद्वेष को आम बना दिया है। स्त्री देह को महज संभोग व वासना तक ही सीमित किया है। एक स्त्री की स्वतंत्र चेतना, उसका बोलना, लिखना, नेतृत्व करना या पुरुषों द्वारा बनाए गए वर्जित क्षेत्रों में प्रवेश करना आदि एक बड़े पुरुषवादी वर्ग को रास नहीं आता है। ऐसे में प्रेम भी उनके लिए वासना या भोग का साधन मात्र है। बावजूद इसके परिवर्तन की आस बनी रहती है। स्त्री-कवियों का लेखन इसी परिवर्तन की आस लिए आगे बढ़ रहा है। गगन गिल, कात्यायनी,

अनामिका, नीलेश आदि की प्रेमाभिव्यक्ति परिवर्तन की उसी आधारशिला को सिरजती है। स्त्री-कविता में अंतर्भुक्त स्त्री-संवेदना के राग से ही उनके प्रेम की व्यापकता को समझा जा सकता है। इसके लिए आवश्यक है कि काव्यास्वादन की बनी-बनाई परिपाटी से अलग इन कविताओं का पाठ किया जाए। एक नवीन पाठ द्वारा ही स्त्री-कविता के अर्थापन को समझा जा सकता है।

संदर्भ :

[1] शंभुनाथ, (संपा.) (प्रथम संस्करण : 2019). *हिंदी साहित्य ज्ञानकोश-7*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 3952

[2] तिलक, रजनी (प्रथम संस्करण : 2014). *हवा सी बेचैन युवतियाँ*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 12

[3] तिलक, रजनी (प्रथम संस्करण : 2014). *हवा सी बेचैन युवतियाँ*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 9

[4] तिलक, रजनी (प्रथम संस्करण : 2014). *हवा सी बेचैन युवतियाँ*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, फ्लैप से उद्धृत

[5] तिलक, रजनी (प्रथम संस्करण : 2014). *पदचाप*, नयी दिल्ली : निधि बुक्स, पृ. 25

[6] तिलक, रजनी (प्रथम संस्करण : 2014). *हवा सी बेचैन युवतियाँ*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 43

[7] वही, पृ. 25

[8] तिलक, रजनी (प्रथम संस्करण : 2014). *हवा सी बेचैन युवतियाँ*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 26

[9] टाकभौरे, सुशीला (द्वितीय संस्करण : 2014). *मेरे काव्य संग्रह स्वाति बूंद और खरे मोती हमारे हिस्से का सूरज*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 27

[10] टाकभौरे, सुशीला (द्वितीय संस्करण : 2013). *मेरे काव्य संग्रह यह तुम भी जानो तुमने उसे कब पहचाना*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 38-39

[11] सेठी, रेखा (पहला संस्करण : 2019). *स्त्री कविता: पक्ष और परिपेक्ष्य*, नयी दिल्ली : राजकमल पेपरबैक्स, पृ. 196

[12] टाकभौरे, सुशीला (द्वितीय संस्करण : 2014). *मेरे काव्य संग्रह स्वाति बूंद और खरे मोती हमारे हिस्से का सूरज*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 69

[13] टाकभौरे, सुशीला (द्वितीय संस्करण : 2013). *मेरे काव्य संग्रह यह तुम भी जानो तुमने उसे कब पहचाना*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 24

[14] टाकभौरे, सुशीला (द्वितीय संस्करण : 2013). *मेरे काव्य संग्रह यह तुम भी जानो तुमने उसे कब पहचाना*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 30

[15] टाकभौरे, सुशीला (द्वितीय संस्करण : 2014). *मेरे काव्य संग्रह स्वाति बूंद और खरे मोती हमारे हिस्से का सूरज*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 120

[16] टाकभौरे, सुशीला (द्वितीय संस्करण : 2014). *मेरे काव्य संग्रह स्वाति बूंद और खरे मोती हमारे हिस्से का सूरज*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 119

[17] 'मीनू', रजत रानी (प्रथम संस्करण : 2015). *पिता भी तो होते हैं माँ*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 13

[18] अनामिका (तीसरा संस्करण : 2009). *खुरदुरी हथेलियाँ*, दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 160-170

[19] गुप्ता, रमणिका (संपा.) (प्रथम संस्करण : 2015). *कलम को तीर होने दो*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 5

[20] पुतुल, निर्मला (पहला सजिल्द संस्करण : 2005). *नगाड़े की तरह बजते शब्द*, नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 14

[21] गुप्ता, रमणिका (संपा.) (प्रथम संस्करण : 2015). *कलम को तीर होने दो*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 212

[22] वही, पृ. 213-14

[23] पुतुल, निर्मला (पहला सजिल्द संस्करण : 2005). *नगाड़े की तरह बजते शब्द*, नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 76-77

[24] गुप्ता, रमणिका (संपा.) (प्रथम संस्करण : 2015). *कलम को तीर होने दो*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 15

[25] पुतुल, निर्मला (पहला सजिल्द संस्करण : 2005). *नगाड़े की तरह बजते शब्द*, नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 94

[26] वही, पृ. 39

[27] पुतुल, निर्मला (पहला सजिल्द संस्करण : 2005). *नगाड़े की तरह बजते शब्द*, नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 92-93

[28] पुतुल, निर्मला (पहला सजिल्द संस्करण : 2005). *नगाड़े की तरह बजते शब्द*, नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 90-91

[29] टेटे, वंदना (पहला संस्करण : 2019). *कवि मन जनी मन आदिवासी स्त्री कविताएं*, दिल्ली : राधाकृष्ण पेपरबैक्स, पृ. 57-58

[30] गुप्ता, रमणिका (संपा.) (प्रथम संस्करण : 2015). *कलम को तीर होने दो*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 103

[31] गुप्ता, रमणिका (संपा.) (प्रथम संस्करण : 2015). *आदिवासी समाज और साहित्य*, नयी दिल्ली : कल्याणी शिक्षा परिषद, पृ. 76

[32] गुप्ता, रमणिका (संपा.) (प्रथम संस्करण : 2015). *कलम को तीर होने दो*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 106-107

[33] गुप्ता, रमणिका (संपा.) (प्रथम संस्करण : 2015). *कलम को तीर होने दो*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 170

[34] गुप्ता, रमणिका (संपा.) (प्रथम संस्करण : 2015). *कलम को तीर होने दो*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 168-169

[35] गुप्ता, रमणिका (संपा.) (प्रथम संस्करण : 2015). *कलम को तीर होने दो*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 184

[36] वही, पृ. 180

[37] गुप्ता, रमणिका (संपा.) (प्रथम संस्करण : 2015). *कलम को तीर होने दो (झारखंड के आदिवासी हिन्दी कवि)*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 187

[38] गुप्ता, रमणिका (संपा.) (प्रथम संस्करण : 2015). *कलम को तीर होने दो (झारखंड के आदिवासी हिन्दी कवि)*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 199

[39] गुप्ता, रमणिका (संपा.) (प्रथम संस्करण : 2015). *कलम को तीर होने दो (झारखंड के आदिवासी हिन्दी कवि)*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 245

[40] वही, पृ. 246

[41] गुप्ता, रमणिका (संपा.) (प्रथम संस्करण : 2015). *कलम को तीर होने दो (झारखंड के आदिवासी हिन्दी कवि)*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 259

[42] वही, पृ. 258

[43] गुप्ता, रमणिका (संपा.) (प्रथम संस्करण : 2015). *कलम को तीर होने दो (झारखंड के आदिवासी हिन्दी कवि)*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 300

[44] कात्यायनी (प्रथम संस्करण : जनवरी, 2006). *फुटपाथ पर कुर्सी*, लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन, पृ. 195

[45] सेठी, रेखा (पहला संस्करण : 2019). *स्त्री-कविता : पक्ष और परिप्रेक्ष्य*, नयी दिल्ली : राजकमल पेपरबैक्स, पृ. 23

[46] अनामिका (प्रथम संस्करण : 2019). *कविता में औरत,* नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 5

[47] रघुवंशी, नीलेश (पेपरबैक संस्करण : 2009). *घर निकासी,* नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, फ्लैप से उद्धृत

[48] रघुवंशी, नीलेश (पेपरबैक संस्करण : 2009). *घर निकासी,* नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, पृ.

[49] रघुवंशी, नीलेश (प्रथम संस्करण : 2017). *खिड़की खुलने के बाद*, नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, फ्लैप से उद्धृत

[50] रघुवंशी, नीलेश (प्रथम पेपरबैक संस्करण : 2016). *कवि ने कहा चुनी हुई कविताएं*, नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, पृ. 64

[51] शुभा – कविता कोश (http://kavitakosh.org/kk/)

[52] जायसवाल, रंजना (प्रथम संस्करण : जून, 2018). *स्त्री है प्रकृति*, जयपुर : बोधि प्रकाशन, पृ. 52

[53] वही, पृ. 61

[54] वर्मा, अनीता (पहला संस्करण : 2008). *रोशनी के रास्ते पर*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 65-66

[55] तिलक, रजनी (प्रथम संस्करण : 2014). *हवा सी बेचैन युवतियाँ*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 21

[56] पुतुल, निर्मला (पहला सजिल्द संस्करण : 2005). *नगाड़े की तरह बजते शब्द,* नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 36

[57] वही, पृ. 38

[58] पुतुल, निर्मला (पहला सजिल्द संस्करण : 2005). *नगाड़े की तरह बजते शब्द,* नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 39

[59] कात्यायनी (पुनर्मुद्रण : सितंबर, 2019). *सात भाइयों के बीच चम्पा,* लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन, पृ. 19

[60] सेठी, रेखा (पहला संस्करण : 2019). *स्त्री-कविता : पक्ष और परिप्रेक्ष्य*, नयी दिल्ली : राजकमल पेपरबैक्स, पृ. 35

[61] अनामिका (प्रथम संस्करण : 2019). *दूब-धान*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 55

[62] वही, पृ. 56

[63] सेठी, रेखा (पहला संस्करण : 2019). *स्त्री-कविता : पक्ष और परिप्रेक्ष्य*, नयी दिल्ली : राजकमल पेपरबैक्स, पृ. 35

[64] सिंह, सविता (दूसरा संस्करण : 2019). *नींद थी और रात थी*, दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 49

[65] सिंह, सविता (दूसरा संस्करण : 2019). *नींद थी और रात थी*, दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 52

[66] गिल, गगन (प्रथम (वाणी) संस्करण : 2018). *अँधेर में बुद्ध*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 40

[67] वर्मा, अनीता (पहला संस्करण : 2008). *रोशनी के रास्ते पर*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 95

[68] शुभा – कविता कोश (http://kavitakosh.org/kk/)

[69] जायसवाल, रंजना (संस्करण : 2009). *जिंदगी के कागज पर*, दिल्ली : शिल्पायन, पृ. 29

[70] सेठी, रेखा (पहला संस्करण : 2019). *स्त्री-कविता : पहचान और द्वंद्व*, नयी दिल्ली : राजकमल पेपरबैक्स, पृ. 121

[71] पुतुल, निर्मला (पहला सजिल्द संस्करण : 2005). *नगाड़े की तरह बजते शब्द*, नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 73

[72] तिलक, रजनी (प्रथम संस्करण : 2014). *हवा सी बेचैन युवतियाँ*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 65

[73] तिलक, रजनी (प्रथम संस्करण : 2014). *हवा सी बेचैन युवतियाँ*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 81

[74] धन्वा, आलोक (पहला संस्करण : 2015). *दुनिया रोज बनती है*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 44-45

[75] आशुतोष कुमार, *स्त्री-कविता का सामाजिक स्वर और शुभा की कविता* (http://www.anunad.com/blog-post)

[76] पाण्डेय, गोरख (द्वितीय संस्करण : 2014). *समग्र कविताएं गोरख पाण्डेय*, इलाहाबाद : सांस्कृतिक संकुल (सांस), पृ. 35

[77] कमल, अरुण (दूसरा संस्करण : 2016) *प्रतिनिधि कविताएं अरुण कमल*, नयी दिल्ली : राजकमल पेपरबैक्स, पृ. 73-74

[78] त्रिपाठी, अरविंद (संपा.) (प्रथम संस्करण : 2006). *आकाश धरती को खटखटाता* है, पंचकूला (हरियाणा) : आधार प्रकाशन, पृ.

[79] रावत, भगवत (पहला संस्करण : 2014). *प्रतिनिधि कविताएं भगवत रावत*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 34

[80] जोशी, राजेश (संस्करण : 2014) *दो पंक्तियों के बीच*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 40-41

[81] देवताले, चन्द्रकान्त (संस्करण : 2008). *जहां थोड़ा सा सूर्योदय होगा*, संवाद प्रकाशन, पृ. 151

[82] खरे, विष्णु (पहला संस्करण : 2017). *प्रतिनिधि कविताएं विष्णु खरे*, नयी दिल्ली : राजकमल पेपरबैक्स, पृ. 86

[83] करण, पवन (संस्करण : 2006). *स्त्री मेरे भीतर*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 91

[84] जैन, अरविंद, मंडलोई, लीलाधर (आवृत्ति : 2014). स्त्री : मुक्ति का सपना, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 484

[85] करण, पवन (संस्करण : 2010). *उर्वर प्रदेश*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 320

[86] सिंह, सविता (पहला संस्करण : 2013). *स्वप्न समय*, नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ. 51

[87] सेठी, रेखा (पहला संस्करण : 2019). *स्त्री-कविता : पक्ष और परिप्रेक्ष्य*, नयी दिल्ली : राजकमल पेपरबैक्स, पृ. 39-40

[88] अनामिका (संस्करण : 2011). *कवि ने कहा चुनी हुई कविताएं*, नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, पृ. 59

[89] तिलक, रजनी (प्रथम संस्करण : 2014). *हवा सी बेचैन युवतियाँ*, नयी दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, पृ. 64

[90] कात्यायनी (पहला पुनर्मुद्रण : सितंबर 2019). *सात भाइयों के बीच चम्पा*, लखनऊ : परिकल्पना प्रकाशन, पृ. 140

[91] गिल, गगन (प्रथम (वाणी) संस्करण : 2017). *एक दिन लौटेगी लड़की*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 116-117

[92] गिल, गगन (प्रथम (वाणी) संस्करण : 2017). *एक दिन लौटेगी लड़की*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 39-40

[93] गिल, गगन (प्रथम (वाणी) संस्करण : 2017). *यह आकांक्षा समय नहीं*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 45

[94] गिल, गगन (प्रथम (वाणी) संस्करण : 2017). *एक दिन लौटेगी लड़की*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 37

[95] वही, पृ. 113

[96] सेठी, रेखा (पहला संस्करण : 2019). *स्त्री-कविता : पक्ष और परिप्रेक्ष्य*, नयी दिल्ली : राजकमल पेपरबैक्स, पृ. 69

[97] वर्मा, अनीता (पहला संस्करण : 2003). *एक जन्म में सब*, नयी दिल्ली : राजकमल प्रकाशन, पृ. 24

[98] जायसवाल, रंजना (संस्करण : 2009). *ज़िन्दगी के कागज़ पर*, नयी दिल्ली : शिल्पायन, पृ. 70

[99] वही, पृ. 133

[100] वही, पृ. 134

[101] वही, पृ. 167

[102] जायसवाल, रंजना (प्रथम संस्करण : 2015). *क्रांति है प्रेम*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 19

[103] जायसवाल, रंजना (प्रथम संस्करण : 2007). *दुख पतंग*, इलाहाबाद : अनामिका प्रकाशन, पृ. 39

[104] जायसवाल, रंजना (प्रथम संस्करण : 2015). *क्रांति है प्रेम*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 51

[105] जायसवाल, रंजना (प्रथम संस्करण : 2015). *क्रांति है प्रेम*, नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, पृ. 5

[106] वही, पृ. 7

[107] पुतुल, निर्मला (पहला सजिल्द संस्करण : 2005). *नगाड़े की तरह बजते शब्द*, नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 78

[108] वही, 46

[109] पुतुल, निर्मला (पहला सजिल्द संस्करण : 2005). *नगाड़े की तरह बजते शब्द*, नयी दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 49

[110] वही, पृ. 50

[111] वही, पृ. 50